।। श्री वीतरागाय नमः ।।

श्री अमोलक ऋषिजी महाराज स्मारक ग्रन्थमाला पुष्प संख्या २७.

महासती भगवती ब्राह्मी

श्रमणसंघीय पं०

मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज

वीर सं. २४८६
अमोलाब्द २४

द्वितीयावृत्ति
२००० प्रतियाँ
अर्ध मूल्य
३७ नये पैसे

विक्रम २०१७
सितम्बर १९६०

प्रकाशकः—

श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया.

(पश्चिम खानदेश)
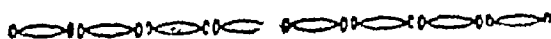
मुद्रकः—

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,

चौमुखीपुल, रतलाम.

प्रकाशक की ओर से

ब्राह्मी चंदनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिनमुखे कुर्वन्तु मे मगलम् ॥

जैन परम्परा में मगल-कारिणी सोलह सतियों का प्रात काल में स्मरण करने की परिपाटी है । श्रद्धालु श्रावक-श्राविकागण बड़े भक्तिभाव से इन नारी रत्नो का स्मरण करते हैं । यह इस बात का द्योतक है कि जैनधर्म गुणपूजक है वह लिंग, वय या वेश आदि को विशेष महत्त्व नही देता । वास्तव में सामाजिक जीवन में नारी की अत्यधिक महत्ता है । नारी के हाथ में ही देश, समाज और मानव के निर्माण का दारमदार है । हमारे प्राचीन महापुरुषों ने इस तथ्य को समझ कर नारी को समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्रदान की थी परन्तु बीच के काल में नारी के प्रति हीनता का भाव पैदा हुआ जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ ।

आज पुनर्जागरण का युग है । इस बात की परम आवश्यकता है कि नारी जाति सुशिक्षित, सुसस्कारी और सद्‌गुणसम्पन्न हो ताकि उसकी गोद में पलने वाली संतान भी आदर्श सस्कारों से ओतप्रोत हो ।

इस उद्देश्य को लेकर पण्डित मुनि श्री कल्याणऋषिजी म० सा० ने 'महिलाजीवन मणिमाला' नामक सीरिज की सयोजना की और उसके अन्तर्गत सोलह सतियों की आदर्श जीवनी नये ढंग से पाठकों के समक्ष रखी गई है । सन् १९५४ में श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया ने सोलह सतियों के जीवनचरित की सीरिज को प्रकाशित किया । अनेक उदारचेता श्रीमानों का सहयोग प्राप्त होने से ज्ञानालय ने अर्धमूल्य में यह सीरिज वितरित की ।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि पाठकों ने इस सीरिज को बड़े चाव से अपनाया। परिणाम स्वरूप इस सीरिज की यह द्वितीय आवृत्ति पाठकों के समक्ष रखते हुए मुझे गौरव का अनुभव हो रहा है। पाठकों की अभिरुचि को देखते हुए इस संस्करण की २००० प्रतियाँ प्रकाशित करने हेतु प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

प्रथम संस्करण में अनेक उदारचेता सज्जनों का आर्थिक सहयोग मिला था अतएव पुस्तकों का अर्धमूल्य रखा गया था। प्रस्तुत संस्करण संस्था की ओर से ही प्रकाशित किया जा रहा है और प्रचार हेतु इस संस्करण का भी अर्धमूल्य ही रखा गया है।

इस सीरिज का प्रथम संस्करण जब प्रकाशित हुआ था तब जो कागज एवं आर्टपेपर का मूल्य था उसकी अपेक्षा इस संस्करण के समय कागज आदि का मूल्य लगभग ड्योढा हो गया है फिर भी पुस्तक के मूल्य में पहले की अपेक्षा केवल छह नये पैसे की ही वृद्धि की गई है। शेष व्ययभार संस्था ने उठाया है।

प्रस्तुत सीरिज के संयोजक पण्डित मुनि श्री कल्याणऋषिजी महाराज सा० के हम अत्यन्त आभारी है जिनकी संयोजना के कारण यह उपयोगी साहित्य प्रकाशित हो सका है।

अन्त में मैं उन सभी सज्जनों का आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने ज्ञानालय को आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

मैं आशा करता हूँ कि यह प्रकाशन पाठकों को और खास कर महिलाओं को जागृति की नवप्रेरणा प्रदान करेगा। इति

धूलिया
(प. खा.)

कन्हैयालाल छाजेड़
मंत्री
श्री अमोल जैन ज्ञानालय

श्री अमोल जैन ज्ञानालय-धूलिया (प० खा०)

इस प्रकाशन-संस्था को आर्थिक सहायता देने वाले सज्जनों की शुभ नामावली

हमारे सदस्य
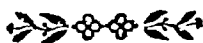
जन्म दाताः—

१	श्रीमान्	राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी	हैदराबाद
२	,,	प्रेमराजजी चन्दूलालजी छाजेड़	,,
३	,,	मोतीलालजी गोविन्दरामजी श्रीश्रीमाल	धूलिया
४	,,	हीरालालजी लालचन्दजी घोका	यादगिरि
५	,,	केवलचन्दजी पन्नालालजी वोरा	बैंगलोर
६	,,	सरदारमलजी नवलचन्दजी पुंगलिया	नागपुर
७	,,	केसरचन्दजी फत्तरदासजी वोरा	आम्बी (नगर)

स्तम्भः—

१	श्रीमान्	जैन श्रावक संघ	वार्शी
२	,,	दलीचंदजी चुन्नीलालजी बोरा	रायचूर
३	,,	शम्भूमलजी गंगारामजी मूथा	बैंगलोर
४	,,	अगरचंदजी मानमलजी चोरड़िया	मद्रास
५	,,	कुन्दनमलजी लूंकड़ की सुपुत्री श्री सायरवाई	बैंगलोर
६	,,	नानचंदजी भगवानदासजी दूगड़	घोड़नदी
७	,,	वस्तीमलजी हस्तीमलजी मूथा	रायचूर
८	,,	तेजराजजी उदयराजजी रूनवाल	,,
९	,,	मुकनचंदजी कुशलराजजी भंडारी	,,
१०	,,	नेमीचंदजी शिवराजजी गोलेच्छा	वेलूर
११	,,	पुखराजजी सम्पतराजजी धोका	यादगिरि
१२	,,	इंदरमलजी गेलड़ा	मद्रास
१३	,,	गिरदीचंदजी लालचंदजी मरलेचा	,,
१४	,,	जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरवाई	सुरापुर
१५	,,	चम्पालालजी लोढा की पत्नी श्रीमती घोसीबाई	सिकंदराबाद
१६	,,	सज्जनराजजी मूथा की धर्मपत्नी श्रीउमरावबाई आलन्दूर	मद्रास
१७	,,	चम्पालालजी पगारिया	मद्रास
१८	,,	अमोल जैन स्था० सहायक समिति	पूना
१९	,,	गिरधारीलालजी बालमुकनजी लूंकड़	बोरद
२०	,,	श्री स्थानकवासी जैन श्रीसंघ	घोटी
२१	श्रीमती	भूरीबाई ध्र० छोगमलजी सुराणा	वाणियमबाड़ी
२२	,,	मेहतावबाई ध्र० अमोलकचंदजी शीशोदिया	,,

संरक्षक:—

१ श्रीमान् किसनलालजी बच्छावत मूथा की धर्मपत्नी गिलखोबाई रायचूर
२ ,, हंसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहतावबाई आलंदूर म.
३ ,, जयवंतराजजी भंवरलालजी चौरड़िया मद्रास
४ ,, निहालचंदजी मगराजजी सांकला वेलूर
५ ,, लाला रामचंद्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई हैदराबाद
६ ,, पुखराजजी लूंकड़ की धर्मपत्नी गजराबाई बैंगलोर
७ ,, किशनलालजी फूलचंदजी लूणिया ,,
८ ,, मिश्रीलालजी कात्रेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई ,,
९ ,, उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैदराबाद
१० ,, गाढमलजी प्रेमराजजी बांठिया सिकंदराबाद
११ ,, मुल्तानमलजी चंदनमलजी साकला ,,
१२ ,, जेठालालजी रामजी के सुपुत्र गुलाबचदजी
(स्व० माता जवलबाई की स्मृति में) सिकंदराबाद
१३ ,, गुलाबचदजी चौथमलजी बोहरा रायचूर
१४ ,, जसराजजी शातिलालजी बोहरा ,,
१५ ,, दौलतरामजी अमोलकचंदजी धोका यादगिरि
१६ ,, मांगीलालजी भण्डारी मद्रास
१७ ,, हीराचंदजी खिवराजजी चोरड़िया ,,
१८ ,, किशनलालजी रूपचन्दजी लूनिया ,,
१९ ,, मांगीलालजी वंसीलालजी कोटड़िया ,,
२० ,, मोहनलालजी प्रकाशमलजी दूगड ,,
२१ ,, पुखराजजी मीठालालजी वोहरा पेरम्बूर ,,

२२ श्रीमान् राजमलजी शांतिलालजी पोखरणा पेरम्बूर मद्रास
२३ ,, ऋषभचन्दजी उदयचन्दजी कोठारी ,, ,,
२४ ,, आर. जेतारामजी कोठारी ,, ,,
२५ ,, जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी मायाबाई आलंदूर ,,
२६ ,, मिश्रीलालजी रांका की धर्मपत्नी मिश्रीबाई पुदूपेठ ,,
२७ ,, माणकचन्दजी चतुर की धर्मपत्नी रतनबाई वेलूर
२८ ,, बोरीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीबाई बेंगलोर
२९ ,, एम० कन्हैयालाल एण्ड ब्रदर्स समदड़िया ,,
३० ,, हीराचन्दजी मांवला की धर्मपत्नी भूरीबाई ,,
३१ ,, निहालचन्दजी घेवरचन्दजी भटेवरा वेलूर
३२ ,, धनेचन्दजी विजयराजजी ,, ,,
३३ ,, गुलाबचन्दजी केवलचन्दजी ,, ,,
३४ श्रीमती गुमदानी बहिन ,,
३५ श्रीमान् रामचन्द्रजी बांठिया की धर्मपत्नी पानीबाई ,,
३६ ,, धींजराजजी घाडीवाल की धर्मपत्नी मिश्रीबाई त्रिवेल्लूर
३७ ,, सम्पतराज एण्ड कम्पनी तिरपातूर
३८ ,, आशकरणजी चोरड़िया की धर्मपत्नी केसरबाई उलंदूरपेठ
३९ ,, डुंगराजजी खिवराजजी केवलचन्दजी बरमेचा श्रीपेरमपूर
४० ,, नवलमलजी शम्भूमलजी चोरड़िया मद्रास
४१ ,, मिश्रीलालजी पारसमलजी कातरेला बेंगलोर
४२ ,, केशरीमलजी धींसूलालजी कटारिया ,,
४३ ,, मुल्तानमलजी चन्दनमलजी गरिया ,,
४४ ,, चुन्नीलालजी की ध० प० भूमीबाई ,,
४५ ,, अचलदासजी हेमराजजी कहाड़ गिंधनूर
४६ ,, एन० शांतिलालजी वलदोटा पूना

४७ श्रीमान् धोंडीरामजी विनायक्या की धर्मपत्नी रंगूबाई निफाड़
४८ ,, जुगराजजी मूथा की धर्मपत्नी पताशीबाई काठपाड़ी
४६ ,, डूंगरमलजी अनराजजी भीकमचन्दजी भंवरलालजी सुराणा मद्रास
५० ,, मिश्रीलालजी वोरा की धर्मपत्नी नेनीबाई बैंगलोर
५१ ,, केवलचन्दजी वोरा की धर्मपत्नी पार्वतीबाई ,,
५२ ,, सूआलालजी शंकरलालजी जैन माम्फलम्-मद्रास
५३ ,, वक्तावरमलजी गादिया की धर्मपत्नी गंगाबाई ,,
५४ ,, अमरचंदजी मरलेचा की धर्मपत्नी चौथीबाई पल्लावरम् ,,
५५ ,, गोविन्दराम मोहूराम ट्रस्ट की ओर से (सेक्रेटरी श्री दीपचन्दजी संचेती) धूलिया
५६ ,, स्व० रूपचन्दजी भंसाली की धर्मपत्नी श्री जतनबाई फत्तेपुर
५७ ,, (स्व. श्री अनराजजी जवाहरमलजी मंडलेचा के स्मरणार्थ) श्रीमान् वंसीलालजी मेघराजजी मंडलेचा फत्तेपुर
५८ ,, हीरालालजी मोतीलालजी भलगट गुलबर्गा
५६ ,, भिकचन्दजी लालचन्दजी बूरड़ (महावीर स्टोर) पिपलगॉव (वसंत)
६० ,, मूलचन्दजी माणकचन्दजी चोपड़ा (साकोरा वाले) पिपलगाँव (वसंत)
६१ ,, स्व० लच्छीरामजी भडारी की धर्मपत्नी श्रीमती तुलसाबाई नान्दुड़ी (नासिक)
६२ श्रीमती मातो श्री स्व. राजोबाई भ्र मिश्रीलालजी छाजेड़ की पुन्य स्मृति मे छाजेड़ वन्धु धूलिया
६३ श्रीमान् पन्नालालजी छल्लाणी की धर्मपत्नी सौ. पतासाबाई वडेल

६४ श्रीमान् गुमदानीजी — नासिक जिला
६५ ,, हिम्मतमलजी पवनलालजी संचेती — [देवला] रामसर
६६ ,, कन्हैयालालजी नेमीचन्दजी लोढा — म्हैसूर
६७ ,, चम्पालालजी छगनलालजी चोरडिया — मुकने (नासिक)
६८ श्रीमती धापूबाई ध्र. हंसराजजी रांका — नासिक सिटी
६९ श्रीमान् मूलचन्दजी गुलराजजी बोहरा वाणिया विहीर (प. खा.
७० ,, भागचन्दजी दगडुलालजी पगारीया — धरणगाव (पू. खा.)
७१ ,, अमोलकचन्दजी मोतीलालजी पगारिया — ,, ,,
७२ ,, सुखलालजी दगडुरामजी ओसवाल — पिपलगांव बखारी नासिक
७३ ,, स्व० फूलचन्दजी गोलेछा की धर्मपत्नी श्रीमती रंगुबाई — चाहर्डी (पू. खा.)
७४ ,, लालचन्दजी कमलराजजी बागमार — रायचूर
७५ ,, मदनलालजी नेमिचन्दजी पारख — नासिक सिटी
७६ ,, कस्तूरचन्द पारख की धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई — वरखेडे (नासिक)
७७ ,, किसनलालजी चुन्नीलालजी रांका (स्व.श्रीमान् मिश्रीलालजी के स्मरणार्थ) — ताराहाबाद नासिक
७८ ,, भिकचन्दजी मोतीलालजी कांकरिया — ,, ,,
७९ ,, ताराचन्दजी राजमलजी कांकरिया — ,, ,,
(स्व. श्रीमान कपूरचन्दजी के स्मरणार्थ)
८० ,, स्व छगनलालजी पारख की धर्मपत्नी चांदाबाई — नासिक

समर्पण

ऋषिवर मुनि श्री मुलतान ऋषिजी महाराज साहब की सेवा में—

मुनि-श्रेष्ठ !

मेरे मुनि-जीवन के विकास मे आपकी पवित्र भावनाओं का और आदर्श सम्मति का बहुमूल्य सयोग रहा; उसी से आकर्षित होकर कृतज्ञता पूर्वक आपके कर-कमलो में यह लघु कृति सादर समर्पित है।

पोदवड़ संवत्सरी वि. सं २०१०

विनीत:—
मुनि कल्याण ऋषि.

यत् किंचित्
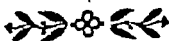
समाज में नारी जाति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। महान् से महान् पुरुष भी, पहले-पहले माता की ममता और वात्सल्यमयी गोदी में आश्रय पाकर और माता के ही हृदय-रस का पान करके महत्तालाभ करने में समर्थ होते हैं। सर्वप्रथम उन्हें माता से ही जीवन के मूलभूत संस्कार प्राप्त होते हैं। माता के हृदय से उन्हें बाहरी खुराक ही नहीं मिलती, किन्तु जीवन का निर्माण करने वाली आन्तरिक और सूक्ष्म खुराक भी मिलती है। इसी से समझ लीजिए कि पुरुष के संस्कार-निर्माण में नारी का स्थान क्या है ?

इतना होते हुए भी स्वीकार करना होगा कि नारी जाति के प्रति पुरुष वर्ग ने यथोचित न्याय नहीं किया। नारी जाति को जो प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी, वह उसे नहीं मिली। हां, जान पड़ता है कि आदिकाल में नारी के प्रति हीनता का भाव नहीं था, किन्तु मध्य काल में वह अत्यधिक बढ गया। यहाँ तक कि नारी को वेद-शास्त्र तक पढ़ने का निषेध किया जाने लगा।

जैन धर्म का दृष्टिकोण सदैव आत्मप्रधान रहा है। वह लिंग, वेष और वय आदि बाह्य उपाधियों की गौणता और आत्मा की प्रधानता का समर्थक रहा है। अतएव भगवान् महावीर भी यही दृष्टिकोण अपनाएँ, यह स्वाभाविक ही था। उन्होंने जैसे अन्यान्य क्षेत्रों में बल-

वती क्रान्ति की, उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी की। उन्होंने अपने श्रमण संघ में नारियों को वही दर्जा दिया जो पुरुषों को प्राप्त था। इस प्रकार नारी जाति की प्रतिष्ठा की वृद्धि हुई और उसके उद्धार का पथ प्रशस्त हुआ यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि जैन परम्परा के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। इसका एक प्रमाण तो यही है कि जैनपरम्परासम्मत सोलह सतियों में प्रथम तीर्थंकर से लेकर अन्तिम तीर्थंकर के समय तक की सतियाँ सम्मिलित हैं।

नारीजाति का महत्त्व उसके कतिपय विशिष्ट गुणों के कारण है। उदारता, दया, क्षमा, ममता, वत्सलता आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्होंने नारी को प्रतिष्ठा प्रदान की है। जितनी मात्रा में उसके इन सद्गुणों का विकास होगा, ससार उतना ही सुखमय बनेगा। अतएव नारी के इन गुणों को उत्तेजित करने वाले सभी प्रयास समादरणीय हैं, प्रशंसनीय हैं और अनुकरणीय हैं।

पण्डितरत्न मुनि श्रीकल्याणऋषिजी महाराज ने इस दिशा में जो प्रयास किया है, वह वास्तव में स्तुत्य है। हमारे यहाँ सोलह सतियों के अनेक जीवन चरित्र प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु प्रायः सभी में उनके जीवन की मूल घटनाओं का ही दिग्दर्शन कराया गया है। उन घट-नाओं से प्रतिफलित होने वाली शिक्षाओं को और प्रासगिक उपदेशप्रद विषयों को स्थान नहीं के बराबर दिया गया है। किन्तु प्रस्तुत 'महिला जीवन मणिमाला' में ग्रथित जीवनियों में यह विशिष्टता है। इसमें सतियों के जीवन-प्रसगों से फलित होने वाले निष्कर्षों पर बड़ी बारीकी से विचार किया गया है। प्रासगिक उपदेशों के कारण ये चरित्र अत्यन्त उपयोगी बन गये हैं। आज के अल्पशिक्षित स्त्रीसमाज को इसी प्रकार स्पष्ट रूप से उपदेश की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ, इस सीरीज

की इन सोलह पुस्तकों में नारी जीवन सम्बन्धी सभी उपयोगी बातों का समावेश हो गया है। स्त्री जाति के कल्याण के लिए इस सुन्दर साहित्य की आयोजना करने वाले मुनि श्री कल्याणऋषिजी म० निस्संदेह बधाई के पात्र हैं।

आज पाश्चात्य जनता के संपर्क के कारण भारतीय लोग अपने आदर्शों को भूल रहे हैं और जीवन की सुखशान्ति के लिए अभिशाप रूप विदेशी आदर्शों को अपना रहे हैं। ऐसे समय में नूतन ढंग से पुरातन आदर्शों को उपस्थित करने का यह प्रयास बहुत स्पृहणीय और मूल्यवान् है। हमारी आन्तरिक कामना है कि नारी समाज इन जीवनियों से लाभ उठावे और पश्चिम की आपातरम्य कुसंस्कृति के चक्कर में न पड़ कर भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही अपने जीवन का निर्माण करें।

प्रस्तुत सीरीज के सम्पादन में अनेक सुयोग्य विद्वानों का हाथ रहा है, इसीलिए इसकी उत्कृष्टता और उपयोगिता बढ़ गई है !

मुनि श्री कल्याणऋषिजी महाराज को साहित्य के प्रति असीम अनुराग है। प्रसिद्ध साहित्य निर्माता स्व० पूज्य श्री अमोलकऋषिजी म० के योग्य शिष्य में यह गुण न होता तो आश्चर्य की ही बात थी ! आपकी यह कृतियाँ समाज में समुचित सन्मान प्राप्त करें, इसमें समाज का कल्याण है।

ब्यावर
२५-४-५४

—शोभाचन्द्र भारिल्ल
न्यायतीर्थ

विषयानुक्रमणिका

ॐ श्रीवीतरागाय नमः

महासती भगवती ब्राह्मी

-: विषय-प्रवेश :-

इस विराट सृष्टि की ओर दृष्टि दौड़ाइए। कहीं ओरछोर दिखलाई देता है ? यह सभी ओर असीम है, अनन्त है। क्षेत्र के परिमाण की बात जाने भी दें और सिर्फ वस्तुओं की विविधता की ओर ही दृष्टिनिपात करें तो भी उसका अन्त नहीं। सैकड़ों और हजारों नहीं, लाखों और करोड़ो भी नहीं, असंख्य-असंख्य पदार्थ इस विशालतर ससार में नजर आते है। उनकी गणना करने बैठें तो क्या छोर पा लेंगे ? नाना प्रकार की वृक्ष, लता, गुल्म, गुच्छ एवं अन्य वनस्पतियाँ, असंख्य प्रकार के पृथ्वी के पेट पर रेंगने वाले क्षुद्र जन्तु, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, मनुष्य, और विचित्र- विचित्र प्रकार के अचेतन पदार्थ हैं। गगन में चमकने वाले चन्द्र सूर्य और तारे अलग ही है !

मनुष्य जब विश्व की इस विविधता पर ध्यान देता है तो भौंचक्कासा रह जाता है। वह सृष्टि की थाह नहीं पाता। तो अपने आपको अकिंचन, असमर्थ और तुच्छ समझने लगता है !

मगर क्या सचमुच ऐसी ही बात है ? इस सृष्टि का शृङ्गार और संचालक मानव-प्राणी क्या वास्तव में इतना असमर्थ है कि वह सृष्टि के रहस्य को नहीं पा सकता ?

नहीं, ऐसी बात नहीं है। सृष्टि यदि अनन्त है तो मनुष्य का सामर्थ्य भी अनन्त है—बल्कि अनन्तानन्त है ! उसने अपने सामर्थ्य का विकास करके सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य को आत्मसात किया है, पता लगाया है और जड वाणी की सहायता लेकर जितना प्रकट किया जा सका, उतना प्रकट किया है।

जिन्होंने सृष्टि को परिज्ञात किया, वे महामानव थे। उन्हें हम सर्वज्ञ कहते है, सर्वदर्शी कहते हैं। उन्होंने हमारे बन्द नेत्र खोले हैं। हमें अद्भुत ज्ञान की उज्ज्वल ज्योति दी है। अन्धकार में भटकने वालों को ज्ञान के प्रखर प्रकाश के लोक में पहुँचा दिया है। उनकी अनुभूति और वाणी के प्रकाश में हम भी सृष्टि के स्वरूप को समझने में समर्थ हो सके हैं, भले हमारा ज्ञान उतना स्फुट नहीं है !

यों देखें तो बड़ी उलझनें हैं। दुनिया के दर्शनशास्त्र सृष्टि के स्वरूप के संबंध में परस्पर विरोधी अनेक मान्यताएँ प्रकट करते हैं। एक दर्शन कहता है कि जगत चेतना का ही विस्तार है और चेतन तत्त्व को छोड कर किसी दूसरे तत्त्व की सत्ता नहीं है। इसके विरोध में चार्वाक दर्शन कहता है—यह तो ठीक है कि जगत् में मूल-भूत तत्त्व एक ही है, किन्तु वह चेतन नहीं जड़ है। जड़ के संयोग से ही चेतन तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है और चेतन आखिर जड़ में ही लीन हो जाता है।

इन दोनो का विरोध करता हुआ बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय सामने आता है। उसका कहना है कि न चेतन का सद्-भाव है, न जड़ का। यह संसार तो शून्य है! स्वप्न के सदृश है। स्वप्न मे विविध दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उनकी वास्त-विक सत्ता कुछ भी नहीं होती, उसी प्रकार संसार में दिखाई देने वाले पदार्थ भी शून्य हैं।

इसी प्रकार कोई सृष्टि को ज्ञानमय मानते हैं तो कोई शब्द-मय। नाना दृष्टिकोण हैं। हमें युक्ति और तर्क से समझना होगा कि वास्तव में सृष्टि क्या चीज है? क्या वह चेतनमात्र है, या जडमात्र है? शून्य है या ज्ञानमय है अथवा शब्दमय है? अथवा इन सब मान्यताओं से भिन्न जड़-चेतनमय है, जैसा कि अनेक दर्शन स्वीकार करते हैं?

इस संबंध में विशेष रूप से एक बात हमारा ध्यान आक-र्षित करती है। वह यह है कि सृष्टि में सर्वत्र संघर्ष दिखलाई पड़ता है। वह संघर्ष एक मे होना असंभव है। एक में, न संघर्ष हो सकता है, न गति हो सकती है और न एक तत्त्व अपने आप में सृष्टि के प्रवाह को निरन्तर कायम रख सकता है। जैसा कि अद्वैत-वादी दर्शन कहते हैं, अगर एक ही तत्त्वमय सृष्टि होती तो सर्वत्र शून्यता का ही आभास होता। न कोई इसे समझने वाला और समझाने वाला होता और न समझने योग्य कोई तत्त्व ही होता!

दुनिया में जो चहल पहल दृष्टिगोचर होती है, वह अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण और संघर्ष के अभाव में असंभव

है। अतएव सृष्टि के मूलभूत तत्त्व अनेक होने चाहिए और वह भी ऐसे जो आपस में एक दूसरे को किसी न किसी अंश में प्रभावित करते हो।

जैनदर्शन मे यों तो अनेक तत्त्व है पर उनका समावेश जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन-जड़) में हो जाता है। यह दोनों तत्व अनादि-निधन है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। दोनों के संमिश्रण और संघर्ष के फलस्वरूप ही सृष्टि क प्रवाह चलता है। किन्तु इसमे यह नहीं समझना चाहिए कि यह दोनों तत्व अपने असली स्वरूप में मिले-जुले या अभिन्न है। वास्तव में दोनों का स्वरूप एक दूसरे से निराला है।

जीव स्वभाव से चिदानन्दमय है। अनन्तज्ञान और अनन्त-दर्शन उसका स्वभाव है। वह अनन्त आत्मिक आनन्द और वीर्य से सम्पन्न है। किन्तु जड तत्व ने उसके स्वरूप को अपनी सत्ता से प्रभावित और विकृत कर दिया है। यही कारण है कि परमतेजोमय और प्रकाशपुंज आत्मा अपने स्वभाव से भ्रष्ट, अज्ञान से आवृत और जन्म-मरण का भागी हो रहा है।

अजीव तत्व में एक पुद्गल हैं। पुद्गल विविध प्रकार के हैं उनमें एक प्रकार है—कार्मण। कार्मण जाति के पुद्गल जब आत्मा के साथ बद्ध हो जाते है तो उनमे जीव को नाना प्रकार के फल प्रदान करने की शक्ति आ जाती है।

कर्म किस प्रकार आत्मा के साथ दूध में पानी की भाँति एकमेक हो जाते हैं, किस कारण एक नियत समय तक बद्ध

रहते हैं और किस तरीके से उन्हें दूर किया जा सकता है; इन सब बातों का विशद विवेचन करने का यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो सिर्फ यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि कर्मों के आवरण के कारण ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों का आविर्भाव नहीं हो पाता है।

जैसे मदिरापान करने से मनुष्य बेभान हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म रूपी मदिरा के प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो रहा है और—

'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं'

का पात्र बन रहा है। अर्थात जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा है। चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। ज्ञानीजनों ने जन्म-मरण के इस अनादि प्रवाह का अन्त करने की विधि बतलाई है। कहा भी है:—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्त्वार्थसूत्र

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से मुक्ति प्राप्त होती है। यह तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग है।

श्री उत्तराध्ययनशास्त्र में यही बात इस प्रकार कही गई है:—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

—उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. २

सर्वदर्शी जिनेन्द्रों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को जन्म-जरा-मरण-से मुक्ति पाने का मार्ग बतलाया है।

आशय यह है कि मोक्ष प्राप्त किये बिना दुःखों का अन्त नहीं आ सकता और मोक्ष प्राप्त करने के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यगदर्शन और सम्यक्चारित्र जिसमें सम्यक्तप का भी समावेश है, अत्यन्त आवश्यक है।

इन सब में सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है। दोनों सह-चर हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान भी होता है और जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्यग्दर्शन भी अवश्य है। जैसे सूर्य का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ रहते हैं, उसी प्रकार सम्यग्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी साथ-साथ रहते हैं। इनके बिना सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना किया जाने वाला तप भी बालतप कहलाता है। कठोर से कठोर तपस्या की जाय, धूनी रमाई जाय, ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की आतापना ली जाय, पौष-माघ में जल में समाधि ली जाय, कण्टकशय्या पर शयन किया जाय, शरीर को घोर से घोर यातना पहुंचाई जाय; किन्तु सम्यग्दर्शन यदि नहीं है तो इस देहदण्ड से कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। यह देहदमन संसार का ही कारण बनता है, मोक्ष का नहीं।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। उसको प्राप्त किये विना मोक्ष की साधना असंभव है। अतएव आत्मद्रष्टा ज्ञानी जनों ने सम्यक्त्व की प्राप्ति को ही,-प्रधानता दी है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, जैन शास्त्रों मे यह बात अत्यन्त विस्तार के साथ समझाई गई है। हम यहाँ अति संक्षेप में ही उसका उल्लेख करेंगे।

आठ प्रकार के कर्मों में मोहनीय कर्म वडा प्रबल है। कहना चाहिए कि वह सव कर्मों का प्रधान सेनापति है। जैसे मदिरा के प्रभाव से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जगत् के सभी जीव हेय-उपादेय के विवेक से विकल और अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हो रहे हैं। मोहनीय कर्म ही सम्यग्दर्शन का वाधक है। जव संसार की यातनाएं सहते-सहते कदाचित् मोहनीय कर्म निर्वल पड़ता है, अर्थात् अनन्तानुवंधी चारित्रमोहनीय की चौकडी और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ उपशम या क्षय या क्षयोपशम को प्राप्त होती हैं, तव सम्यक्त्व का उदय होता है। अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व का अन्तरंग कारण हैं। सद्गुरु की संगति, शास्त्रोपदेश का श्रवण आदि वाह्य कारण है। वाह्य कारण विविध प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु अन्तरंग कारण में विविधता नहीं हो सकती। अन्तरंग कारण मोह की उक्त प्रकृतियों का क्षय या उपशम होना ही चाहिये।

इन संसार रूपी विकट अटवी में पर्यटन करते हुए इस आत्मा ने क्या-क्या कष्ट नहीं भुगते ? अनन्त-अनन्त वार नरक और निगोद की असह्य यातनाएं सहन की, अनन्त वार पशुओं और पक्षियों की योनियों मे घोर दुःख सहन किये, असंख्य और और अनन्त काल स्थावर पर्याय में मूकभाव से मुसीबतें झेलीं; हृदय को हिला देने वाली और रोंगटे खड़ा कर देने वाली अतीव विकराल व्यथाओं को सहन करने का क्या परिणाम निकला ? कुछ भी तो नहीं ! और इन व्यथाओं का भी तो अन्त नहीं आया ! जिस जीव के मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम न हुआ, उसका अनादि काल से अब तक का सारा परिभ्रमण और दुःख-सहन सर्वथा व्यर्थ हुआ !

हाँ, जिस जीव ने सम्यक्त्व का निर्मल आलोक पा, लिया है, जिसे स्व-पर का विवेक-लाभ हो गया है, उसे अवश्य ही आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। वह जीव समझने लगता है—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,

विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।

बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः,

न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

अर्थात्-मेरा आत्मा एक-अद्वितीय है, शाश्वत है, शुद्ध है चेतन मय है-अखण्ड ज्ञानघन है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ बाह्य हैं, पर हैं। कर्म जनित सम्पूर्ण भाव न शाश्वत हैं और न स्वकीय हैं। और—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धम्,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः।
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ? ॥

सम्यग्दृष्टि जीव इस तथ्य को भली भाँति समझ जाता है कि शरीर के साथ भी जिस की एकता नहीं है उसकी पुत्र, कलत्र और मित्र आदि परिवार के साथ एकता किस प्रकार हो सकती है ? चमड़ी हटा देने पर रोम क्या शरीर में रह सकते हैं ? जब शरीर ही मुझसे भिन्न है तो संसार का कोई भी पदार्थ अभिन्न कैसे हो सकता है ?

तो जिस आत्मा को इस प्रकार का बोध उत्पन्न हो जाता है, जिसे निर्मल दृष्टि प्राप्त हो जाती है और जो आत्मा के शुद्ध बुद्ध सिद्ध स्वरूप को समझ लेता है, उसका निस्तार हो जाता है। उसके अनन्त संसार का अन्त आ जाता है, असीम भव-परम्परा सीमित हो जाती है और अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गलपरावर्त्तन काल भवभ्रमण का शेष रह जाता है।

इसे कहते हैं सूई के साथ धागा पिरोना ! प्रमादवश ऐसी सुई गुम हो सकती है, किन्तु उसका पुनः मिलना आसान हो जाता है। इसी प्रकार एक वार सम्यक्त्व प्राप्त होकर कर्मोदय वश लुप्त हो सकता है, फिर भी वह, एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में,

आत्मा में ऐसा संस्कार डाल जाता है कि आत्मा अर्द्ध पुद्‌गल-परावर्त्तन काल में पुन' जागृति-लाभ करके अपने परम और चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है।

कहा जा चुका है कि प्रत्येक आत्मा अनादि काल से जन्म-मरण करके एक भव से दूसरे भव में उत्पन्न होता रहता है। परन्तु उसके वह सब भव व्यर्थ होते हैं। उनकी कोई गणना नहीं होती। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है, तभी उसके जन्म-गणना करने योग्य होते हैं। वही जन्म गिनती में आते हैं। इस दृष्टि कोण से जिन परम पावन-चरिता सती-शिरोमणि ब्राह्मी का चरित यहाँ लिखा जा रहा है, उनके पाँच भव हुए। पाँचवें भव में इस उज्ज्वलात्मा ने सिद्धि प्राप्त कर ली।

प्रथम भव

सभी ओर से अपरिसीम और अनन्त आकाश में चौदह रज्जु परिमित लोक है। लोक की आकृति नर्तक पुरुष की सी है। तत्वज्ञानियों ने तीन खण्डों में विभक्त करके लोक का स्वरूप समझाया है। इन तीन खण्डों को ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक कहते हैं।

हम जिस धर्मकथा का उल्लेख करने जा रहे हैं, उसका संबंध मध्यलोक से है। अतएव अर्ध्वलोक और अधोलोक का वर्णन छोड़कर मध्यलोक का ही किंचित् परिचय देना यहाँ उपयुक्त है।

हम लोग जहाँ निवास करते हैं, यह स्थान रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर है। इस के ठीक बीचों बीच सुदर्शन मेरुपर्वत है। मेरुपर्वत के भीतरी भाग में आठ रुचक प्रदेश हैं। यह रुचक प्रदेश लोक का मध्य भाग है। इन रुचक प्रदेशों से नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर तक, कुल अठारह सौ योजन लम्बा मध्यलोक है।

जैसे आसमान में असंख्य तारे हैं, उसी प्रकार मध्यलोक की इस पृथ्वी पर असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। किन्तु

जैसे तारे इधर-उधर विखरे हुए हैं, उसी प्रकार द्वीप और समुद्र विखरे नहीं है, वल्कि एक दूसरे को घेरे हुए हैं। एक द्वीप है, उसे चारों ओर से घेरे हुए एक समुद्र है। फिर उस समुद्र का घेरा डाले हुए दूसरा द्वीप हैं और उस द्वीप को चारों तरफ से वेष्टित किये हुए दूसरा समुद्र है। इस प्रकार द्वीपों और समुद्रों का क्रम चलता ही गया है। सब के अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है और स्वयंभूरमण समुद्र के वाद सब ओर अनन्त शून्य आकाश ही आकाश है।

इन असंख्य द्वीपों और समुद्रों के मध्य में जम्बू द्वीप है। जम्बू द्वीप गोल थाली के आकार का और एक लाख योजन विस्तृत है। इसके चारों ओर लवण समुद्र है।

जम्बू द्वीप में पूर्व से पश्चिम दिशा में लम्बे छह पर्वत आ गये हैं। उन पर्वतों को वर्षधर पर्वत कहते हैं। इन छह पर्वतों के कारण जम्बू द्वीप के सात विभाग हो गये हैं। दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र है, जिसमें हम लोग निवास करते हैं। इससे आगे उत्तर मे क्रमश. हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत क्षेत्र हैं। जैसा कि इन क्षेत्रों के नाम से स्पष्ट है, विदेह क्षेत्र सब के बीच में है और इसी विदेह क्षेत्र में, जिसे महा विदेह क्षेत्र भी कहते हैं, उक्त सुदर्शन मेरु है, जिसकी ऊँचाई एक लाख योजन की है।

महाविदेह क्षेत्र सब से श्रेष्ठ और पुण्यमय क्षेत्र है। यहाँ भरत क्षेत्र में तो काल के प्रभाव से देह मान, आयु, संस्थान,

संहनन आदि में न्यूनाधिकता होती रहती है, किन्तु महाविदेह क्षेत्र में काल का ऐसा विषम प्रभाव नहीं होता। वहाँ सदैव एक-सी स्थिति रहती है। यहाँ कभी धर्म की प्रवृत्ति होती है, कभी विच्छित्ति हो जाती है, किन्तु महाविदेह क्षेत्र ऐसा पुण्य शाली क्षेत्र है कि वहाँ निरन्तर धर्म की प्रवृत्ति होती है। सुरा-सुर वंदनीय त्रिलोक पूजित तीर्थङ्कर भगवान् जहाँ निरन्तर विचरते रहते है उस पवित्र क्षेत्र की कहाँ तक प्रशंसा की जाय? भरत क्षेत्र में चौथे आरे में जैसी रचना होती है, महाविदेह क्षेत्र में सदैव वैसी रचना रहती है। वहाँ के सुखों की ठीक-ठीक कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन है!

महाविदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठ नामक नगर अत्यन्त भव्य एवं सुहावना है। वास्तव में ही वह इस भूमि की प्रतिष्ठा रूप है। धन और जन से परिपूर्ण क्षितिप्रतिष्ठ नगर में सांसारिक सुखों की बहार है। वह नगर प्रासादिक प्रासादों से, मनोहर मार्गों से, सुन्दर बाजारों से और चेतोहर चित्र-शालाओं, तथा सुन्दर कूप, वापी सर आदि जलाशयों से सुशोभित है। वहाँ की शोभा का वर्णन करना कवियों के लिए भी कठिन है! नन्दन कानन के सदृश सुरम्य उद्यान उस नगर की निसर्ग श्री बढ़ाने वाले हैं और नगर निवासी नर नारियों के मन में अनुपम आनन्द उत्पन्न करते हैं। नगर की सुन्दरता उसके वाह्य वैभव के कारण ही नहीं है वरन् उसमें धार्मिक जनों का वास होने के कारण वह आन्तरिक सौन्दर्य से भी सम्पन्न है।

क्षितिप्रतिष्ठ का राजा ईशानचन्द्र था। वह नीति निपुण शूरवीर प्रजाप्रेमी और तेजस्वी था। ईशानचन्द्र की पटरानी का नाम

कनकावती था। कनकावती के गर्भ से एक कुमार का जन्म हुआ। उसका नाम 'महीधर' रक्खा गया।

राजा के ही समान नीतिकुशल और पुण्यशाली उसका शुभश्री नामक मंत्री था। मंत्री की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी यथा नाम तथा गुण, थी। वह सद्गुणों में तथा रूप-लावण्य में साक्षात् लक्ष्मी का अवतार थी। उस लक्ष्मी और इस लक्ष्मी में यदि कुछ अन्तर था तो यही कि वह चञ्चला है मंत्री पत्नी चञ्चला नहीं थी। वह लक्ष्मी उलूकवाहिनी कहलाती है, यह गजवाहिनी थी। उस लक्ष्मी को पाकर लोग मदोन्मत्त हो जाते हैं, इस लक्ष्मी को पाकर राजमंत्री धर्मनिष्ठ हो गया था। इस लक्ष्मीदेवी के उदर से सुबुद्धि नामक पुत्ररत्न का जन्म हुआ।

क्षितिप्रतिष्ठ नगर के नगरश्रेष्ठी का नाम सागरदत्त था। सागरदत्त लोकप्रिय और प्रतिष्ठित पुरुष था। नगरसेठ की पदवी प्राचीन काल में बहुत महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। नगरसेठ अपने नगर की प्रजा का पिता सदृश होता था। नगर-जनों की सार-संभाल करना, उनके दुःख-सुख में शरीक होना, सब की आजीविका का ध्यान रखना, जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे वह देकर उसका काम निकाल देना और हर तरह से प्रजा के कल्याण की कामना करना नगर सेठ का काम था। नगर सेठ राजा-प्रजा के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी होता था। एक ओर वह प्रजा में राजा के प्रति श्रद्धा और निष्ठा कायम रखने का प्रयत्न किया करता था और दूसरी ओर प्रजा को कोई कष्ट हो तो राजा से कह कर उसके

निवारण का उद्योग किया करता था। इस कारण वह जैसे प्रजा का हितैषी होता था उसी प्रकार राजा का हितैषी होता था। उसे दोनों समान रूप से चाहते थे।

पाठक भूल न जाएँ कि यह महाविदेह क्षेत्र का वर्णन है। महाविदेह क्षेत्र में सदैव एक-सी स्थिती रहती है। हमारे यहाँ चौथे आरे में जो परिस्थिति थी, वही वहाँ आज भी है। वहाँ के राजा और प्रजा के बीच यहाँ जैसी विषम परिस्थिति नहीं है। जैसे भरत क्षेत्र में, चौथे आरे में, स्वार्थलोलुपता का प्राबल्य नहीं था और इस कारण राजा और प्रजा के स्वार्थ परस्पर विरोधी नहीं थे और फलस्वरूप आपस में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं था। राजा अपने आपको प्रजा का सेवक और संरक्षक समझता था और प्रजा के हित में ही अपना हित मानता था। यों कहना चाहिए कि राजा प्रजा के पालन के लिये ही राजा बनता था। अतएव उस समय नगरसेठ को अपना उत्तरदायित्व निभाने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती थी। सागरदत्त सेठ भी बिना कठिनाई के अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था, क्योंकि वहाँ राजा-प्रजा के बीच किसी प्रकार का स्वार्थ संघर्ष नहीं था और न आज है! सागरदत्त की पत्नी अभयमती ने पूर्णभद्र नामक एक सुपुत्र को जन्म दिया।

क्षितिप्रतिष्ठ नगर में, व्यापारियों में प्रधान धन्ना सेठ नामक एक प्रधान नागरिक गिना जाता था। उसकी पत्नी का नाम 'शीलवती' था। शीलवती वास्तव में सुशीलवती थी। उसकी कूंख से 'शीलपुंज' नामक एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ।

जैसे राजा, मंत्री, नगरसेठ और व्यापारी नगर की शोभा हैं, वैसे ही वैद्य भी नगर की शोभा गिना जाता है। वैद्य के अभाव में नगर-निवासी जन विविध प्रकार की व्याधियों का आतंक होने पर कष्ट पाते हैं। किन्तु इस नगर में 'सुविधि' नामक एक परम गुणी वैद्य भी था। सुविधि की पत्नी का नाम सुमित्रा था। सुमित्रा के उदर से भी एक पुत्र का जन्म हुआ था। उसका नाम 'जीवानन्द' था।

इसी नगर में एक और लब्धप्रतिष्ठ सेठ थे ईश्वरदत्त! वह अपनी मतिश्री नामक सेठानी के साथ दाम्पत्यजीवन का सुख भोगताथा। इनके दोनों दाम्पत्यजीवन रूपी सुरम्य उद्यान में सुन्दर और सौरभसम्पन्न सुमन खिला। उसका नाम रक्खा गया केशवकुमार।

उक्त छहों कुमार एक ही देश में, एक ही नगर में और एक ही राज्य की परिधि में उत्पन्न हुए थे। उन सब ने एक ही शाला में विद्याध्ययन किया। सहचर और सहपाठी होने के कारण छहों में गहरा मैत्री भाव जागृत हुआ। छहों बाल्यसखा परस्पर गाढ़ी प्रीति रखते थे। उनके सौहार्द को देख-देखकर लोग कहा करते थे—'यह छहों छह शरीर एक प्राण हैं!

पाँचों इन्द्रियों के सुलभ सुख भोगते हुए छहों कुमार एक बार वन क्रीड़ा करने के लिए उद्यान में पहुँचे। उद्यान की अनूठी छटा निहारते हुए और परस्पर प्रमोदोत्पादक आलाप-संलाप करते हुए वे इधर-उधर पर्यटन कर रहे थे। अकस्मात वे एक वृक्ष के निकट पहुँचे और उसके नीचे उन्होंने मुनि को देखा।

मुनि ध्यान में मग्न थे। नासा के अग्रभाग पर दृष्टिनिवेश करके और जगत् की ओर से आँख बंद करके वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों आत्मा की खोज में वे अपने आपमें ही डुबकी लगाये हुए हैं!

मगर यह क्या? मुनि की काया अत्यन्त कृश थी। उनका यौवन ढल चुका था। तपस्या की अग्नि में उनका सुन्दर सलौना गात दग्ध-सा हो गया था। यह सब तो खैर स्वाभाविक था, परन्तु उनके शरीर से पीब झर रहा था! रोम-रोम से मवाद निकल रहा था। शरीर की सारी चमडी गल गई थी। मवाद के साथ झरते हुए जहरीले कीड़े फिर उनके शरीर से चिपट जाते थे। उन कीटों ने मुनि के शरीर को चलनी बना डाला था। दृश्य बड़ा ही दर्दनाक और वीभत्स था!

फिर भी मुनि आत्माराम में रमण कर रहे थे। उनके चेहरे पर वेदना का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता था। विकलता की छाया भी नजर नहीं आती थी। सौम्य और भव्य ललाट पर न कोई सिकुड़न थी, न मुख में आह थी, न चिन्ता का कोई निशान था। मुनि की देह और मुखमुद्रा को देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि मुनि देह में स्थित होने पर भी देहातीत दशा में विचरण कर रहे हैं! उनके वदन मे शान्ति की जो सुधा प्रवाहित हो रही थी, वह दर्शक को अजर-अमर बना देने के लिए पर्याप्त थी।

छहों कुमार मुनिराज की यह विचित्र दशा देख कर सन्नाटे में आ गये। उनके अन्तःकरण में श्रद्धा, भक्ति और दया का एक

विचित्र मिश्रित भाव उत्पन्न हुआ। यही नहीं, मुनिराज जिस दुस्सह वेदना को सहन कर रहे थे, उसकी कल्पना करके उनका हृदय द्रवित हो उठा!

वनक्रीड़ा की सारी उमंग जाती रही। उत्साह सहसा विलीन हो गया। उनके हृदय रूपी ह्रद में अनुकम्पा की उत्ताल लहरें लहराने लगी। सब प्रश्नसूचक दृष्टि से एक दूसरे की तरफ देखने लगे।

सब से पहले पूर्णभद्र ने अपना मौन भंग किया। उसने वैद्यतनय जीवानन्द की ओर देख कर कहा—बन्धु, तुम कुशल वैद्य के उत्तराधिकारी पुत्र हो। लोग कहते हैं—साँप का बच्चा साँप से भी अधिक भयकर होता है। क्या तुम वैद्यक में किसी भी वैद्य से कम हो? तुमने अपने यशस्वी पिता का कौशल विरासत में पाया है। फिर मुनि की इस स्थिति को देख कर चुप क्यों हो! विश्वशान्ति के संदेश-वाहक, जन-जन के मन में अध्यात्म की आभा प्रस्फुटित करने वाले संयमी महापुरुषों के रोगशमन में यदि तुम्हारी चिकित्सा-कला काम न आई तो फिर वह किस काम की?

महीधर कुमार ने कहा—पूर्णभद्र यथार्थ कह रहे हैं। आयुर्वेद का विज्ञान अर्थोपार्जन का साधन नहीं होना चाहिए। उसे सेवा का साधन बनना चाहिए। वैद्यक वृत्ति में परोपकार को प्रथम स्थान मिलना ही योग्य है। अर्थलोलुप चिकित्सक वैद्यराज नहीं, यमराज है। ऐसे वैद्यों के विषय में कहा गया है।

वैद्यराज ! नमस्तुभ्यं यमराज-सहोदर ।
यमस्तु हरति प्राणान् वैद्यः प्राणान् धनानि च ।

अर्थात्—हे वैद्यराज ! हे यमराज के सगे भाई ! तुम्हें हम हाथ जोड़ते हैं ! तुम यम से भी बढ़कर हो । यम तो सिर्फ प्राणों को हरण करता है, किन्तु तुम प्राणों का भी और धन का भी हरण करते हो !

महीधर कुमार ने अपना कथन चालू रखते हुए कहा—जो वैद्य रुग्ण मनुष्य के रोग के अपहरण को ही अपना प्रधान लक्ष्य मानता है, उसे प्रतिष्ठा और सम्पत्ति तो अनायास ही मिल जाती है । जीवानन्द, तुम्हारे पिता मेरे इस कथन के उदाहरण हैं । उन्होंने अपने चिकित्सा-कौशल को कभी अर्थ प्राप्ति का साधन नहीं समझा । तो क्या उन्हें किसी बात की कमी है ?

शीलपुन्ज बोला—जीवानन्द ! तुम अपने योग्य पिता के योग्य पुत्र हो । धन की लोलुपता तुम्हें नहीं हो सकती । तथापि यह मत सोचना कि इन अकिंचन मुनि की सेवा करने से क्या लाभ होगा ? त्यागी वैरागी मुनिराजो की सेवा करना अकारथ नहीं जाता । उस सेवा से ऐसा अपूर्व धन मिलता है जो परलोक में भी साथ जाता है !

सुबुद्धि ने कहा—क्या ही अच्छा होता कि मैं वैद्य होता ! मैं एक भी पल न गंवाता । मुनिराज की यह दशा मुझसे नहीं देखी जाती !

पूर्णभद्र—रोगी को देखकर भी चिकित्सा न करने से वैद्यराज को कौनसा धन मिल जाएगा ? अपने जीवन की अनमोल घड़ियाँ व्यर्थ विताने की अपेक्षा उन्हें दीन-दुखियों की सेवा में विताना अधिक श्रेयस्कर है। दीनवन्धु वनना परमात्मा वनने का मार्ग है।

शीलपुञ्ज—मेरे पिताजी के पास विपुल धनराशि है। अगर उसमें का कुछ भी भाग मुनि की वैयावृत्य में लग सका तो मैं अपने को धन्य समझूंगा। मैं तो अपना सर्वस्व निछावर करके भी मुनिराज को स्वस्थ और नीरोग देखना चाहता हूँ।

जीवानन्द गंभीर भाव से अपने मित्रों की वातें सुन रहा था। कोई क्षुद्राशय व्यक्ति होवा तो मित्रों की यह वातें सुन कर भड़क उठता। किन्तु जीवानन्द वड़ा गंभीर और विचारशील था। मेरे मित्र सचमुच ही मेरे हितैषी हैं जो मुझे प्रशस्त पुण्यकृत्य के लिए प्रेरित कर रहे हैं। ऐसे मित्रों का मिलना भी पुण्य का परिणाम है !

ऐसा सोचकर उसने कहा—मित्रो ! न मुझे धन का लोभ है और न मेरे यहाँ धन की कमी है। जिसे आप जैसे सहृदय और शुभैषी सुहृद् प्राप्त हैं, उसे तो स्वर्ग की सम्पदा की भी लालसा नहीं हो सकती। फिर मेरे पिता राजवैद्य हैं। राजवैद्य के लिए धन धूल के समान है। जैसे तुम्हारा हृदय मुनि की उग्र वेदना से द्रवित हो रहा है, उसी प्रकार मेरे मन में भी एक कसक उठ रही है। मैं यही सोच रहा हूँ कि किस प्रकार मुनि के तन को नीरोग किया जाय ? मुनिराज का रोग

साधारण नहीं है। देख तो रहे हो, रक्त पीव वन कर पानी की तरह वह रहा है। चमड़ी गल गई है। असंख्य विषैले कीटों ने उनके शरीर को अपना भोजनगृह बना लिया है। कीट शरीर के भीतरी भाग तक पैठ गये हैं। रोग दुस्साध्य-सा प्रतीत होता है। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ। अन्तिम श्वास तक निराश न होना और जीवन-रक्षा का प्रयत्न करते रहना वैद्य का प्रथम गुण है। मल्लाह के निराश होने पर नौका की कुशल नहीं और वैद्य के निराश होने पर जीवन की कोई आशा नहीं! मुनिराज की चिकित्सा के लिये तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं।

महीधर कुमार ने पूछा—क्या २ तीन वस्तुएँ चाहिए?

जीवानन्द—लक्षपाक तैल, गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल। इनमें लक्षपाक तैल मेरे यहाँ मौजूद है। शेष दोनों वस्तुएँ वाजार से खरीद कर ले आऊंगा। विश्वास रखिये, मुनिराज के उपचार में कुछ भी कसर नहीं रक्खूंगा।

जीवानन्द का उत्तर सुन कर पाँचों मित्रों को सन्तोष हुआ, प्रसन्नता हुई। पाँचों ने कहा—तुम लक्षपाक का लाभ लो और शेष सामग्री का लाभ हमे लेने दो। लंका का बँटवारा करो तो एक भाग हमारा भी हो।

आखिर छहों मित्र उत्साह और उमंग के साथ वहाँ से रवाना होकर वाजार में आए।

वालवय और सुकुमार काय वाली इस मित्र मंडली को देख कर कोई यही अनुमान कर सकता था कि खेल मे

किसी खिलौने की कमी रह गई है, उसी की पूर्ति के लिए यह दौड़ धूम है ! यह दयाद्रवित, परोपकारपरायण बालक मुनि की वैयावृत्य की पुण्यमयी कामना से प्रेरित होकर दौड़-धूम कर रहे हैं, यह कल्पना भी कौन कर सकता था ? वास्तव में ये बालक तीन वस्तुओं की तलाश में क्या निकले थे, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की तलाश में निकले थे ! मुनि के रोग का उपशमन करने को उनका प्रयास था, किन्तु तत्व-दृष्टि से देखा जाय तो वे अपने ही अनादिकालीन जन्म-जरा-मरण के महान् रोगों को नष्ट करने का प्रयास कर रहे थे।

हाँ, तो छहों बालक एक दुकान से दूसरी और दूसरी से तीसरी पर पहुंचे। पर गोशीर्ष चन्दन और रत्न कम्बल इतनी साधारण वस्तु नहीं थी कि सहज हाथ लग जाय ! दुकानदारों के 'ना' कहने पर उनके हृदय को गहरी ठेस लगी, किन्तु वे सर्वथा निराश न हुए। कहावत है-'जिन खोजा तिन पाइयां।' आखिर भटकते-भटकते एक दुकान पर दोनों वस्तुए मिल ही गईं।

जिस दुकान पर गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल मिला, उसके मालिक थे सेठ वृद्धिचन्द्र। वे धन से, तन से और अनुभव से भी वृद्ध थे। उन्होंने अपने लम्बे जीवन की पूंजी का प्रयोग करते हुए कहा—बालकों, क्या मैं यह जान सकता हूँ कि किस प्रयोजन से तुम यह चीजें ले जा रहे हो ?

बालकों ने कहा—क्यों नहीं ! उपवन में एक महामुनि ध्यान में मग्न विराजमान हैं। उनका तन कुष्ठ रोग से ग्रसित हो

गया है। रक्त सारा मवाद बन-बनकर बह रहा है। उनकी दशा अतिशय दयनीय है। वह दशा देखकर हमारे हृदय हिल उठे! उन्हीं की चिकित्सा के लिए यह वस्तुएँ हम लोग ले जा रहे हैं।

वृद्धिचन्द्र—किसी चिकित्सक से परामर्श किया है?

महीधर—नहीं, हमारे यह मित्र जीवानन्द कुशल वैद्य हैं। लक्षपाक तैल उनके पास है। दो चीजें आवश्यक थीं, वह आपसे खरीद ली हैं। मुनि के तन को नीरोग करने के लिए उनकी सेवा में हम लोग जा रहे हैं।

जैसा भवितव्य होता है वैसे ही निमित्त भी मिल जाते हैं। वृद्धिचन्द्र सेठ की भवस्थिति परिपक्व हो चुकी थी। यह वृत्तान्त सुना तो उनके हृदय से वैराग्य का झरना फूट पड़ा। वे बोले-बच्चों, तुम्हारी भावना भद्र है, तुम्हारी श्रद्धा सराहनीय है और तुम्हारा प्रयास प्रशंसनीय है, किन्तु मुनिजन, गृहस्थ से सेवा नहीं कराते। गृहस्थ के द्वारा ले जाई हुई वस्तु का उपयोग नहीं करते। तुम यह सब ले जा रहे हो, किन्तु मुनिधर्म से प्रतिकूल होने के कारण वे इन्हें स्वीकार नहीं करेंगे।

महीधर—तो फिर मुनि की सेवा करने का क्या उपाय है?

वृद्धिचन्द्र—जरा ठहरो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। तुम लोग बालक होकर भी धर्म-धन के अर्जन में जी-जान से जुट पड़े हो तो मैं बूढ़ा होकर भी क्या देखता रहूँगा? यह नहीं होगा। मै तुम्हारे मार्ग की अड़चन दूर करूंगा। मै आज ही संयम ग्रहण करके साधु

बनूंगा और शास्त्र की मर्यादा के अनुसार यह सब वस्तुएँ तुमसे ले जा कर मुनि की सेवा करूंगा।

छहों बालक वृद्धिचन्द्र की इस उदात्त, विरक्तिमयी और त्यागपूर्ण भावना से अत्यन्त विस्मित हुए। सेठजी धन के लिए उन वस्तुओं को बेच रहे थे, किन्तु अब धर्म के लिए स्वयं बिक गए।

वृद्धिचन्द्र सेठ उसी समय दुकान से उठ बैठे और अपने घर गये। परिवार की अनुमति लेकर वे उसी उपवन में जा पहुँचे, जहाँ रुग्ण मुनिराज विराजमान थे। उन्होंने मुनिराज के चरणों में विधि-पूर्वक वन्दना की और फिर दीक्षित होने की आज्ञा मांगी। किन्तु मुनिराज मौन ही रहे। तब उन्होंने 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' अर्थात् मौन रहना एक प्रकार से स्वीकृति देना ही है, ऐसा मान कर स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षित हो जाने के पश्चात वे नगर में गये और लक्षपाक तैल, गोशीर्ष चन्दन तथा रत्नकम्बल लाए। जीवानन्द के निर्देश के अनुसार वृद्धिचन्द्र मुनि ने ग्लान मुनि के कुष्ठ-ग्रस्त शरीर पर सर्वत्र लक्षपाक तेल का लेप कर दिया और ऊपर से रत्न कम्बल ओढा दिया। तेल की उष्णता से कुष्ठ के कीटाणु घबरा कर बाहर आने लगे और शीतल रत्नकंबल में आश्रय पाने लगे।

वृद्धिचन्द्र मुनि बड़े यत्न से कम्बल को उठा कर मृत कलेवर पर छिटक आते, जिससे कम्बल साफ हो जाता और कीट भी मृत्यु से बच जाते थे।

सेवामूर्ति वृद्धिचन्द्र मुनि ने गोशीर्ष चन्दन को पानी के साथ घिसा और शरीर पर लेप कर दिया, जिससे सारे शरीर में शीतलता व्याप गई। बहुत अंशों में दाह तो शान्त हो गया, किन्तु इतने मात्र से रोग की जड़ नहीं कटी। इस उपचार से चर्म के कीट तो बाहर निकल गये थे, किन्तु मांस और अस्थियों में घुसे हुए कुष्ठ के कीटाणु अब भी अपने स्थान पर जमे हुए थे।

दूसरे दिन फिर वही उपचार किया गया। उससे भी कुछ कीट बाहर निकले। तीसरे दिन के उपचार से तो मुनि का शरीर कीट शून्य ही हो गया। तेल की उष्णता को सहन न कर सकने के कारण समस्त कीट बाहर आ गए और जब गोशीर्ष चन्दन का लेप किया तो शरीर का सारा दाह शान्त हो गया।

वृद्ध मुनि वृद्धिचन्द्र की सेवा अतिशय स्तुत्य थी। जिस गले हुए शरीर को देखकर साधारण मनुष्य को जुगुप्सा उत्पन्न हो सकती थी, जिसकी दुर्गन्ध को सहन करना भी साहस का काम था और जिसके स्पर्श करने मात्र से शरीर में कँपकँपी छूटती थी उसी शरीर को निर्घृण भाव से सँभालना, उमंग के साथ उसकी सेवा करना कितनी उत्कृष्ट भावना का परिणाम हो सकता है!

उक्त छहों मित्र बराबर मुनि की सेवा में उपस्थित रहते थे। उन्हें अपने परिश्रम के बीज के सत्फल देख-देखकर

अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हो रहा था। वृद्ध मुनि सेवा करके अपने कर्मों का क्षपण कर रहे थे तो यह छहों मित्र उनकी सेवा की हार्दिक अनुमोदना करके अपने कर्मों की निर्जरा कर रहे थे।

अहा ! वीतराग प्रभु का मार्ग कितना उदार और कितना विशाल है ! तपस्या रूपी वैयावृत्य के द्वारा जो कल्याण–साधन किया जा सकता है, वही पवित्र और विशुद्ध भावना के द्वारा भी किया जा सकता है। भगवान् ने जहाँ तप को धर्म बतलाया है, वहीं भावना को भी धर्म का अंग बतलाया है। यही नहीं, भावनाधर्म तप का प्राण है। भाव के बिना उत्कृष्ट से उत्कृष्ट क्रिया भी यथेष्ट फलप्रद सिद्ध नहीं होती। कहा भी है—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

छहों मित्र परस्पर वृद्ध मुनि की प्रशंसा करते और कहते थे-हम लोग समर्थ हो कर भी देखते रह गये और इन वृद्ध महानुभाव ने अपूर्व सेवा का लाभ उठा लिया ! धन्य हैं ऐसे सेवा प्रेमी ! धन्य है यह परोपकार-परायण नरपुंगव ! इन्होंने सेवा के द्वारा ही अपने लिए महामंगल के द्वार खोल लिए हैं।

रोगी मुनि अब स्वस्थ हो गये थे। अपना अभिग्रह पूर्ण हुआ समझ कर उन्होंने ध्यान पूर्ण किया। ध्यान पूर्त्ति के पश्चात् उनके मुखारविन्द से यह वाणी निकली—धन्य हैं वह साधु और धन्य है वह श्रावक, जो संयम की रक्षा करते हुए रोगी की सेवा करते हैं।

ग्लान किन्तु अब स्वस्थ हुए मुनिराज को वृद्ध मुनि और मित्रषट्क ने जब रोगमुक्त होने के साथ-साथ ध्यान युक्त भी देखा तो उनके प्रमोद की परिसीमा न रही। अपने परिश्रम की सफलता और एक महान् संयम-निष्ठ महापुरुष की शारीरिक समाधि देखकर किसे प्रसन्नता न होती ? उन्होंने प्रसन्नता एवं उल्लास के साथ कहा—योगीश्वर ! आपके पावन पादपद्मों में हम शत-शत बार नमस्कार करते हैं। रग-रग में और रोम-रोम में उग्रतर वेदना होने पर भी आपने जिस सहिष्णुता एवं धीरता का परिचय दिया है, वह हमारे लिए उज्ज्वल आदर्श है ! आपकी क्षमता अद्भुत है, संयमाराधना अनूठी है ! आप इस पृथ्वीतल के महर्घ अलंकार है !

योगीश्वर ने कृतज्ञता के स्वर में कहा—तुम्हारी भक्ति अति प्रशंसनीय है, क्योंकि तुमने संयम संबंधी दोषों को बचाकर मुनि की सेवा की है और मुनि के रोगग्रस्त शरीर को नीरोग बनाया है। तुम्हारी निस्वार्थ निष्काम सेवा तुम्हें दुःख मुक्त करे !

छहों मित्रों ने कहा—मुनिवर ! आपकी सेवा का श्रेय तो इन वृद्ध मुनि को है, जिन्होंने सेवा धर्म की आराधना के लिए सासारिक सुखों का परित्याग कर दिया, पारिवारिक जनो की ममता के बन्धन की रज्जु को काट फेंका और संयम धर्म अंगीकार करके हम जैसों के सामने एक चमकता हुआ उदाहरण उपस्थित किया ! हम लोग तो दर्शक ही रह गए। सेवक का श्रेष्ठ पद तो इन्होंने ही पाया !

सचमुच सत्पुरुषों की यही प्रकृति होती है। वे परप्रशंसा करके ही अपने सौजन्य को प्रदर्शित करते हैं। अपनी हीनता और दूसरे की महत्ता प्रकाशित करना ही महत्ता का चिह्न है।

वृद्ध मुनि अभी तक मौन थे। वे हर्षातिरेक के कारण कुछ बोल नहीं पाये थे। अब उन्होंने कहा—मुनिराज ! आपका सुयोग पाकर मेरी आत्मा का उद्धार हो गया। आपके चरणों की सेवा का अवसर न मिला होता तो मेरा जीवन अकृतार्थ हो जाता ! संसार की मोह-ममता में फँसा रहता, आर्त्तध्यान में अन्तिम श्वास भी समाप्त हो जाता और परलोक में न जाने कैसी-कैसी यातनाएँ भुगतनी पड़तीं ! अब आपके समान कुशल कर्णधार को पाकर मेरी जीवन-नैया संसार-सागर के परले पार पहुँच जाएगी। मै आपका अतीव कृतज्ञ हूँ। यह मित्रपटक भी मेरे कल्याण मे सहायक बना है ! इसका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

जीवानन्द ने कहा—भंते ! आपकी पावनी जीवनी श्रवण करने की उत्कण्ठा है। अनुग्रह करके उस पर प्रकाश डालिए।

योगीश्वर ने सहज भाव से कहा—पृथ्वीपुर नगर के राजा पृथ्वीपाल थे। मै उनका पुत्र था। मेरा नाम गुणाकार था। सद्गुरु से प्रतिबोध पाया तो आत्म कल्याण की अभिलाषा जागृत हुई। संसार निस्सार प्रतीत होने लगा। विषयों से विरक्ति हो गई। गुरुजी के चरणों का शरण लेकर दीक्षित हो गया। अप्रमत्त भाव से क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान

प्राप्त किया। कुछ दिनों तक निर्विघ्न संयम की आराधना करने के पश्चात् अन्तरंग कारण असाता वेदनीय के उदय से और बाह्य कारण अपथ्य आहार के सेवन से कुष्ठ व्याधि से ग्रस्त हो गया। व्याधि जब बढ़ती ही गई तो मैंने उसकी चिन्ता त्याग दी। समझ लिया कि शरीर तो व्याधि-मन्दिर है। इससे जितना लाभ उठाया जा सके, उठा लेना चाहिए। अभी नहीं तो चार दिन बाद यह जाने को ही है। तरह-तरह से सार-संभाल करने पर भी यह धोखा देता है! यह समझ कर मैंने शरीर के प्रति उदासीनता धारण कर ली। निश्चय कर लिया कि शरीर नीरोग हो जायगा तो ध्यान खोलूँगा और यदि रोग न गया तो जीवन पर्यन्त एक ही स्थान पर स्थित रहते हुए ध्यानमग्न रहूँगा।

भव्यो! कर्म बहुत प्रबल है। जिसने कर्म का उपार्जन किया है, उसे फल भी भोगना ही पड़ता है।

> हसता क्रियते कर्म रुदता परिभुज्यते।
> सुखञ्च जायते तेन, दुःखं तेनैव जायते॥

जीव हँस-हँसकर कर्म करता है और रो-रोकर उसका फल भोगता है। सांसारिक सुख और दुःख-दोनों ही कर्मोदय से होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मकृत दुःख आने पर हाय हाय करने से कुछ भी लाभ नहीं होता, बल्कि हानि ही होती है। हाय-हाय करने से आर्त्तध्यान होता है और आर्त्तध्यान से पुनः अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। यह तो निश्चित है कि चाहे कोई रोए या गाए, कर्म से छुटकारा पा नहीं सकता। कोई भी शक्ति

कृत कर्मों के विपाक से बचा नहीं सकती। तीर्थंकर भगवान् से अधिक शक्तिसम्पन्न और कौन हो सकता है? किन्तु कर्म के प्रभाव से वे भी नहीं बच पाते। लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी कर्म के फल से छुटकारा नहीं होता। कहा भी है:—

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां,
छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धः॥

अर्थात्—जीव चाहे आकाश में उड़ जाय या दिशाओं के अन्त में जाकर छिप जाय, समुद्र की अगाध जलराशि में घुस जाय या किसी दूसरे स्थान पर चला जाय, किन्तु पूर्व जन्म में उपार्जन किये हुए शुभ या अशुभ कर्म जीव का छाया की तरह अनुसरण करते हैं। उनके फल से प्राणी बच नहीं सकता।

गुणाकार मुनि फिर बोले—शरीर की रक्षा और सार-सँभाल करने का उद्देश्य यही है कि उसके द्वारा संयम की साधना करके आत्म कल्याण किया जाय। किसी कारण से शरीर जब संयम-समाराधन के योग्य नहीं रहता, बल्कि समाधि में बाधक और आकुलता में साधक बन जाता है, आर्त्तध्यान का कारण हो जाता है, तब मुनिजन उसे निरुपयोगी समझ कर समभाव पूर्वक त्याग देते हैं। मैंने भी शरीर की ममता त्याग दी थी और निश्चय कर लिया था कि शरीर यदि नीरोग

हो जाय तो ध्यान खोलूँगा, अन्यथा ध्यानमग्न रह कर ही इसे त्याग दूंगा। अपने निश्चय के अनुसार आज तक मैं ध्यान में लीन रहा। परन्तु अचानक तुम लोगों का समागम हो गया और तुम्हारे उपचार से यह शरीर नीरोग हो गया। निश्चय में मेरे असाता वेदनीय का विपाक पूरा हुआ और व्यवहार में तुम्हारे उपचार से साता मिली।

बस, यही मेरे जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त है।

एक ग्लान मुनि की वैयावृत्य करने का निमित्त पाकर इन वृद्ध ने संयम धारण करके अपने उच्चतर कर्त्तव्य का पालन किया है। अगर तुम लोग इन वृद्ध मुनि की सेवा का निमित्त पाकर अपने कल्याण के उद्देश्य से संयम की साधना करोगे तो अपना परम कल्याण कर लोगे। प्रायः मनुष्य सोचा करते हैं कि यौवन में सांसारिक सुख भोगने के पश्चात् वार्धक्य में धर्म का आराधन करेंगे; किन्तु वृद्धावस्था किसी की आती है और किसी की नहीं भी आती। जिनकी आती है उनके हृदय में और अधिक तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। तृप्ति और सन्तुष्टि उनके समीप भी नहीं फटकती। भोग भोगने से तृप्ति होती तो अनादि काल से भोग भोगने वाले इस जीव को कभी की हो गई होती। किन्तु भोग की तृष्णा तो वह आग है जो भोगों का ईंधन पाकर घटने के बदले बढ़ती है। अतएव जो सुयोग मिला है, उसका सुन्दर से सुन्दर उपयोग कर लेने में ही विवेकशीलता है। भविष्य के भरोसे रहने वाले भ्रम में हैं। मृत्यु का कोई समय नियत नहीं है। वह चील की तरह निरन्तर मस्तक पर मंडरा रही है।

कौन जाने किस क्षण झपट्टा मार बैठे ? ऐसी चलाचली की हालत में शीघ्र से शीघ्र आत्मशुद्धि का प्रयास करना ही उचित है। कहा भी है—

त्वरितं किं कर्त्तव्यम् ?

विदुषा संसारसन्ततिच्छेदः।

प्रश्न किया गया कि ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य है जो तुरन्त करना चाहिए ? इस प्रश्न का ज्ञानियों ने उत्तर दिया—विवेकवान् को जल्दी से जल्दी जन्म-मरण के प्रवाह का अन्त करना चाहिए। यही उसका आद्य कर्त्तव्य है।

कितना उपयुक्त उत्तर है ! एक ही कर्त्तव्य में सब कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है। कर्त्तव्य की इति हो जाती है। भव-परम्परा का अन्त करने के पश्चात् फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता !

अन्त में मुनि ने कहा—भद्रपुरुषो ! ज्ञान दृष्टि से विचार करो और जिसमें सच्चा सुख उपजे, उस कार्य को करने में विलम्ब न करो।

गुणाकार मुनि का प्रभावोत्पादक प्रवचन सुन कर महीधर आदि छहों कुमारों को प्रतिबोध की प्राप्ति हुई। उन्होंने माता-पिता से अनुज्ञा लेकर आर्हती दीक्षा धारण की। श्रुतसागर में अवगाहन करके चित्त के कालुष्य को धो डाला, तपस्या की आग में कर्म के कूड़े-कचरे को भस्म करते हुए आत्मा को निर्मल बनाने के प्रयास में संलग्न हो गए।

वृद्ध वृद्धिचन्द्र अनगार कर्मक्षय करके निरंजन-निराकार दशा को–मुक्ति को प्राप्त हुए और छहों मुनिराज पृथ्वीतल पर विचरण करते हुए धर्म का उद्योत करने लगे। अन्त समय में, समाधि पूर्वक पण्डित-मरण से काया का त्याग किया। उन्होंने अपने जीवन को भी सुधारा और मृत्यु को भी सुधारा।

ब्राह्मी का जीव पूर्णभद्र भी इन छह मुनियों मे एक है। सती ब्राह्मी का यह प्रथम भव हुआ।

दूसरा भव
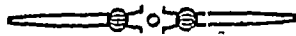
पहले बतलाया जा चुका है कि लोक के तीन खण्ड हैं। मध्यलोक के संबंध में भी कुछ कथा-सम्बद्ध बातों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ ऊर्ध्वलोक के विषय में भी कतिपय आवश्यक बातों की जानकारी कर लेना उचित होगा।

इस समतल भूमि से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक तारागण, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि ज्योतिष चक्र है। यहाँ तक मध्यलोक की सीमा है। ९०० योजन की ऊँचाई से आगे ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है और वह अलोक तक फैला हुआ है।

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक जाति के देवों का और उनसे भी ऊपर लोक के अन्तिम भाग में मुक्त जीवों का वास है।

शनिश्चर विमान की ध्वजा से डेढ़ रज्जु की ऊंचाई पर सौधर्म और ईशान देवलोक हैं। २॥ रज्जु की ऊंचाई पर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग हैं। और फिर क्रम से उनका एक दूसरे के ऊपर अवस्थान है।

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—(१) कल्पोपपन्न और (२) कल्पातीत। हमारे यहाँ जैसे राजा, प्रजा आदि का भेद

है, उसी प्रकार जहाँ इन्द्र, सामानिक आदि का भेद होता है, उन वैमानिक देवों को कल्पोपपन्न कहते हैं और जिनमें इन्द्र आदि का किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता वे कल्पातीत कहलाते हैं। अच्युत देवलोक तक के देव कल्पोपपन्न हैं और नवग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर विमानों के देव कल्पातीत हैं।

कल्पातीत विमानों में प्रत्येक देव स्वयं इन्द्र होता है। वे सब 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं। वहाँ कोई किसी का शासक नहीं है। सब देव समान ऋद्धि, वैभव, प्रभाव आदि से सम्पन्न हैं। किन्तु अच्युत देवलोक तक के देवों में ऐसी समानता नहीं है। वहाँ न तो सभी देव इन्द्र होते हैं और न सब की ऋद्धि एवं विभूति ही समान होती है। राजा के समान देवलोक का शासक इन्द्र कहलाता है। जिनका शासन तो न चलता हो किन्तु ऋद्धि आदि इन्द्र के ही समान हो, उन्हे सामानिक देव कहते हैं, जैसे राजा के भाई। मंत्री और पुरोहित आदि के समान त्रायस्त्रिंश देव कहलाते हैं। सभासदों के समान पारिषद्य देव होते हैं। इसी प्रकार आत्मरक्ष, कोई लोकपाल, कोई अनीक, कोई आभियोग्य और कोई-कोई किल्विषक होते हैं। इन सब के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य हैं। सब को इन्द्र के आदेशों का पालन करना पड़ता है। अनुचित कार्य करने पर इन्द्र उन्हें दण्ड भी देता है।

पूर्ववर्णित छहो मुनि, अन्तिम समय में संथारा करके अच्युत नामक देवलोक मे सामानिक देवो के रूप में उत्पन्न हुए। सभी ने समान क्रिया की थी, अतएव वे सभी समान शक्ति और समान ऐश्वर्य के स्वामी हुए।

बारहवें देवलोक में बाईस सागरोपम की आयु है। देवलोक के देवता हम लोगों की भांति निरन्तर श्वासोच्छ्वास नहीं लेते। उनके श्वासोच्छ्वास का नियम यह है कि जितने सागरोपमों की आयु होती है, उतने ही पक्षों में वे एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। मनुष्य प्रतिदिन और दिन में चाहे जितनी बार भोजन कर लेता है। मगर देवलोक में भोजन करने का भी एक विशेष नियम है। जितने सागरोपम की आयु होती है, उतने हजार वर्ष के बाद ही उन्हें आहार की अभिलाषा होती है। इन दोनों नियमों के अनुसार अच्युत देवलोक में बाईस सागरोपम की आयु होने के कारण वहाँ के देवता बाईस पक्षों में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं और बाईस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार करते हैं।

देवलोक में आहार के पुद्गल इतने सरस, बलकारक और पौष्टिक होते हैं कि एकबार किया हुआ आहार हजारों वर्षों के लिए पर्याप्त हो जाता है। देवता कवलाहार नहीं करते, रोमाहार करते हैं। उनके आहार के पुद्गल अत्यन्त शुभ और बड़े ही मनोज्ञ भी होते हैं।

देवों का शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों के शरीर की तरह रक्त मांस आदि सप्त धातुओं से निर्मित नहीं होता। उनका शरीर एक भिन्न प्रकार के वैक्रिय वर्गणा जाति के पुद्गलों से बना होता है। यह पुद्गल अन्य पुद्गलों से विलक्षण होते हैं। जैसे प्रकाश के पुद्गलों में सिकुड़ने और फैलने का स्वभाव है, उसी प्रकार वैक्रिय पुद्गलों में भी है। वे एक से अनेक और

अनेक से एक रूप भी हो जाते हैं। यही कारण है कि देवता अपने शरीर को इच्छानुसार रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल रूप बनाने में तथा एक के अनेक और अनेक के एक रूप बनाने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं होती। इस शक्ति को वैक्रियलब्धि कहते हैं। यह लब्धि तपस्या के प्रभाव से किसी-किसी औदारिक शरीरी को भी प्राप्त हो जाती है, परन्तु देवों को तो जन्म से ही प्राप्त होती है!

देवगण संसार के उत्कृष्ट सुखों का उपभोग करते हैं और उनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे महाविदेह क्षेत्र में जाकर जिनेश्वर भगवान् की सुधामयी देशना श्रवण करके अपने जीवन को सफल एवं निर्मल बनाते हैं।

ब्राह्मी का जीव दूसरे भव में अपने पांचों साथियों के साथ अच्युत देवलोक के विपुल सुखों का भोग करता है। अनुकम्पा भाव की तीव्रता और मुनिसेवा की पावन भावना की उग्रता के कारण पुण्य प्रकृति का ऐसा उत्कृष्ट बन्ध हुआ, जिससे परिपूर्ण एवं नीरोग पाँचों इन्द्रियाँ मिलीं, दीर्घतर आयु की प्राप्ति हुई और तीर्थंकर भगवान् के मुख-सुधाकर से झरने वाले अनुपम अमृत का पान करने का सुयोग मिला। यह सब करुणा और सेवा का ही सत्फल था।

वास्तव में सेवा धर्म अत्यन्त महान् है। कहना चाहिए कि सेवा के आश्रय पर ही इस जगत की स्थिति है। मनुष्यों में सेवाभाव है तो संसार की परम्परा चल रही है। माता के अन्तःकरण में शिशु के प्रति स्नेह सिक्त सेवाभाव न हो तो

जगत् में कितना भयानक दृश्य हो ! इसी प्रकार कोई भी मनुष्य किसी की सेवा के काम न आवे तो भी कितना घोर संकट उपस्थित हो जाय ? तात्पर्य यह है कि इहलोक और परलोक की अधिकांश सुख-सुविधाएँ सेवा का ही प्रत्यक्ष या परोक्ष फल हैं । निस्वार्थ और उत्कृष्ट सेवा करने से तीर्थंकर गोत्र का भी उपार्जन किया जा सकता है तो संसार के अन्य सुखों की तो बात ही क्या है ? सेवा सर्वार्थ-साधनी और परम मंगलमयी शक्ति है ।

बहुत-से लोग सोचते हैं कि हमारे पास सेवा का कोई साधन नहीं है । सेवा करना विशिष्ट सम्पत्तिशाली या शक्तिशाली लोगों का ही काम है । किन्तु ऐसा सोचने वाले भ्रम में हैं । प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार सेवा धर्म का आचरण कर सकता है । कोई भी ऐसा नहीं है जिस के पास सेवा करने की कोई न कोई सामग्री न हो । विभिन्न वर्गों के लोग किस प्रकार सेवा कर सकते हैं, इस विषय में कहा है—

विद्वाँश्चेन् पठनोद्यतान् सरलया रीत्या मुदा पाठय,
शिल्पी चेदुचिताश्च शिक्षय कला निष्कामवृत्याऽखिलाः
वक्ता चेदसि दर्शय प्रवचनैः सन्नीतिमार्गं सदा,
वैद्यश्चेत् कुरु रोगनाशनकृते तेषां व्यवस्था शुभाम् ॥

अर्थात्—अगर तुम विद्वान हो तो पढ़ने के लिए उत्कंठित बालकों को, प्रसन्नता पूर्वक, सरल रीति से पढ़ाओ । अगर तुम शिल्पकला में निपुण हो तो निष्काम भाव से, जिज्ञासुओं

को कलाओं की शिक्षा दो। अगर वक्ता हो तो अपने प्रवचनों द्वारा सदा नीति का मार्ग प्रदर्शित करो। वैद्य हो तो ऐसी व्यवस्था करो कि रोगों का उद्भव न हो और उद्भूत हुए रोगों का नाश हो जाय।

इसी प्रकार दूसरे-दूसरे वर्गों के लोग भी यथायोग्य सेवा का लाभ उठा सकते है। जिसमें किसी भी प्रकार की योग्यता नहीं है, वह सेवा करने वालों की अनुमोदना करके ही सेवा कर सकता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति सेवा करके अपना जीवन उन्नत बना सकता है।

सेवापरायण किस प्रकार सुख के पात्र बनते हैं, वह समझने के लिए पिछला परिच्छेद ही पर्याप्त है। सेवा के प्रभाव से आक्षी के जीव को दिव्यलोक और स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति हुई।

तीसरा भव

जम्बूद्वीप के मध्य में महाविदेह क्षेत्र है। इस क्षेत्र के सबंध में कुछ बातें बतलाई जा चुकी हैं। मेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में एक लाख योजन लम्बा और निषध तथा नीलवन्त पर्वतों के मध्य में ३६८४ ४/१९ योजन चौड़ा यह क्षेत्र अमित महिमा से सम्पन्न है। इसी क्षेत्र के ठीक मध्य में मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत मध्य में आ जाने के कारण यह क्षेत्र दो भागों में बट गया है। पूर्व की ओर के भाग को पूर्वमहाविदेह और पश्चिम के भाग को पश्चिम महाविदेह कहते है।

पूर्व महाविदेह के बीच में सीता नदी और पश्चिम महाविदेह के बीच मे सीतोदा नामक नदी बह रही है। दोनों एक दूसरी के बगल में समान श्रेणी पर बहती है। अतएव उक्त दोनों भागों के फिर उत्तर-दक्षिण में दो-दो विभाग हो गये हैं। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र चार विभागों में विभक्त है। चारों भागों में आठ-आठ विजय हैं। कुल मिलकर बत्तीस विजय हैं।

पूर्व दिशा में, उत्तर की ओर, लवण समुद्र की तरफ से गिनने पर जो पहली विजय है, उसका नाम पुष्कलावती विजय है। इस विजय में पुंडरीकगिणी नामक एक नगरी है। यह

नगरी अद्भुत नैसर्गिक सौन्दर्यश्री से सुशोभित है। स्थान-स्थान पर वहाँ नदियाँ, नाले आदि जलाशय हैं, जो सदैव जल से परिपूर्ण रहते हैं। सरिताओं के तट पर श्रेणीबद्ध तरुओं की पंक्तियाँ वहाँ की छटा को अतिशय रमणीय और मनोहर बना देती है। वृक्षों की कतारों पर चहचहाने वाले नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पक्षी एक अपूर्व संगीत लहरी को उत्पन्न करते हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं, मानो प्रकृति के विपुल ऐश्वर्य का गुणगान कर रहे हों! विहंगों का वह मधुस्रावी मनोरम कल-कल निनाद सुप्त जगत् को जागृति का संदेश दिया करता है।

पुण्डरीकगिणी नगरी में सभी श्रेणियों की जनता निवास करती है। वह प्रभूत सम्पत्ति से समन्वित है। मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपनी रचना स्वय किये बिना संतोष नहीं पाता। अतएव प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल का उपयोग करके स्वयं भी सौन्दर्य की सृष्टि किया करता है। पुण्डरीकगिणी नगर में मानव-सर्जित सौन्दर्य की भी सीमा नहीं थी। इस प्रकार दोहरे सौन्दर्य मे वह नगरी पृथ्वी पर स्वर्गपुरी के समान शोभा पा रही थी।

महाराज वज्रसेन उस नगरी के अधिपति थे। वे भावी तीर्थंकर थे। उन्होंने अभी तक संसार-अवस्था का त्याग नहीं किया था। महारानी धारिणी के साथ सुख पूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन कर रहे थे। यथासमय उन्हें पाँच पुत्र प्राप्त हुए। सब से बड़ा पुत्र वज्रनाभ चक्रवर्ती था। वज्रनाभ बारहवें

देवलोक से चव कर यहाँ उत्पन्न हुआ था। यह वैद्यपुत्र जीवानन्द का जीव था।

दूसरे पुत्र का नाम वाहु था। वाहु का जीव पहले महीधर था और वह भी वारहवें देवलोक से अवतरित होकर यहाँ उत्पन्न हुआ था।

तीसरा पुत्र सुवाहु नामक था। पूर्वभव में इसका नाम सुवुद्धि था और वह मंत्री का पुत्र था।

चौथा पुत्र था–पीठ। यही पीठ का जीव आगे चलकर ब्राह्मी के रूप मे उत्पन्न होगा। यह पूर्वभव में पूर्वभद्र नामक श्रेष्ठिकुमार था। वारहवें स्वर्ग से चव कर यहाँ जन्मा है।

पाँचवें पुत्र का नाम महापीठ था। वह पूर्वभव मे शीलपुंज था। यह भी वारहवें देवलोक से आया है।

इस प्रकार छह मित्रों में से पॉच तो एक ही राजपरिवार में उत्पन्न हुए और छठा केशव का जीव दूसरे राजा के परिवार में जन्मा। सुयश उसका नाम था। पूर्वस्नेह के कारण सुयश की वज्रनाभ के साथ अत्यन्त गाढी प्रीति थी। इस प्रकार छहों मित्र यहाँ भी एक साथ सुखमय जीवन यापन करने लगे। सव के सव समृद्ध राजपरिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्हें सुखमय जीवन की समस्त उपयोगी सामग्री सहज ही उपलब्ध थी। किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। वे पॉचों इन्द्रियों के मनोज्ञ एवं विपुल भोग भोगते हुए आनन्द के साथ काल-क्षेप कर रहे थे।

महाराज वज्रसेन का समय परिपक्व हुआ। अनेक पूर्व जन्मों के विरक्तिमय संस्कार लेकर तो वह आए ही थे। वह संस्कार अब समय पाकर प्रबुद्ध हो उठे। उन्होंने दीक्षा धारण करने का विचार किया। उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर तीर्थंकर देव के वैराग्य की सराहना की। लौकान्तिक देवों का यह जीताचार है कि तीर्थङ्कर भगवान् के वैराग्य के समय आकर वे संयम और लोक-कल्याण की याद दिलाते हैं तदनुसार लौकान्तिक देव पाँचवें देवलोक से आये और उन्होंने प्रार्थना की—नाथ! तीर्थ की स्थापना कीजिए। भूतल के भव्य प्राणियों के उद्धारण का मार्ग प्रदर्शित कीजिए। वर्षी दान देकर आत्मिक ऐश्वर्य की उपलब्धि कीजिए।

तदनन्तर वज्रसेन तीर्थंकर ने राज्य का भार ज्येष्ठ पुत्र वज्रनाभ के कंधों पर डाला और वर्षीदान देकर आप स्वयं दीक्षित हो गये। अवधिज्ञान जन्म से ही प्राप्त था। दीक्षा ग्रहण करते ही मनः पर्यय-ज्ञान भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार चार ज्ञान के धारक वज्रसेन तीर्थङ्कर ने ऐसी घोर तपस्या की कि एक ही मास में मोहनीय कर्म का समूल क्षय करके वीतराग दशा प्राप्त कर ली। दसवें गुणस्थान के चरम समय में मोहनीय कर्म का उन्मूलन करके सीधा अप्रतिपाति बारहवां गुणस्थान प्राप्त किया। बारहवें गुणस्थान की स्थिति सिर्फ अन्तमुहूर्त्त की है। अतएव एक अन्तमुहूर्त्त बारहवें गुणस्थान में रह कर और उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति के स्वामी हो गए। यही तेरहवें गुणस्थान की अवस्था

है। आत्मा की यही स्थिति अरिहन्त-अवस्था या जीवनमुक्त दशा कहलाती है।

तेरहवें गुणस्थान पर आरूढ होकर भगवान् वज्रसेन ने धर्म-तीर्थ की स्थापना की। वे पतितपावन प्रभु पृथ्वीतल को अपने पद-पद्मों से पावन एवं प्रशस्त बनाते हुए, परम धर्म पीयूष का प्रवाह प्रवाहित करते हुए विचरने लगे।

इधर वज्रनाभ ने अपने चारों भाइयों को माण्डलिक राजा के पद पर प्रतिष्ठित किया और सुयश को अपना मन्त्री नियुक्त किया। इस प्रकार छहों साथी सुख की लहरों में झूलने लगे।

पुण्य के उदय से वज्रनाभ की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। उन्होंने पुष्कलावती विजय के छहों खण्डों पर अपना शासन स्थापित करके सम्पूर्ण विजय को एक संगठन के सूत्र में बाँधा। समस्त प्रजा को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण बनाया। वज्र-नाभ चक्रवर्ती के पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे चौदह रत्नों और नौ निधियों के स्वामी बने। सोलह हजार देव वज्रनाभ की सेवा करने लगे।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् वज्रसेन ग्रामानुग्राम विचरते हुए और जनसमूह के अज्ञानान्धकार का निवारण करते हुए एक बार पुण्डरीकगिणी नगरी में पधारे। देवों ने समवसरण की रचना की। चक्रवर्ती वज्रनाभ अपनी ऋद्धि के साथ, उत्साह और उमंग को लेकर तथा नगर-जनों को साथ लेकर तीर्थंकर

भगवान् के दर्शन करने और प्रवचन-पीयूष का पान करने के लिए गये। सब लोग यथाविधि वन्दना-नमस्कार करके यथोचित स्थान पर बैठ गये। प्रभु ने देशना प्रारम्भ की। कहा.—

संसार अगाध और असीम सागर है। इसमें कषायों की उत्ताल तरंगें उठ रही हैं। इन तरंगों के थपेड़े खाकर प्रत्येक जीवन यात्री अर्थात् संसारी प्राणी की नैया डगमगा रही है। संयम की दृढ पतवार ही उसे अतल जल में निमग्न होने से बचा सकती है। संयम के अभाव मे वह नौका मोह के भंवरों में डूबे विना नहीं रह सकती। अतएव हे भव्य जीवो! यदि तुम्हारे अन्तःकरण में सकुशल संसार-सागर को पार करने की अभिलाषा उदित हुई हो, कल्याण की भावना जागी हो और नरक-निगोद जैसी व्यथा-जनक पर्यायों से अपने आपको बचाने की कामना हो तो संयम की आराधना करो। संयम ही त्राण है, संयम ही शरण है और संयम ही परम आश्रय है। अपनी इन्द्रियों को और अपने मन को अपने नियंत्रण मे रखना संयम है। जब समस्त इन्द्रियाँ आत्मा को अपनी इच्छा के अनुसार नचाना बद कर देती हैं और मन भी आत्मा के वशीभूत हो जाता है, तो आत्मा एक ऐसी शान्ति और निराकुलता को आस्वादन करने लगता है, जो उसे पहले कभी अनुभव में नहीं आई थी। उस समय आत्मा अद्भुत उपशम-रस मे डूब जाता है। उसमें एक प्रकार के नवीन वीर्य-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; जिससे वह अपने वलवान् विकारों को भी नष्ट भ्रष्ट करने में सामर्थ्यशाली हो जाता है।

मुमुक्षुओ ! तुम संसार के जिस सुख को सुख समझते हो, वह वास्तव में सुखाभास है। आत्मा जब अपने स्वरूप में स्थिर होता है, अपने अपूर्व आलोक में ही विचरता है, तभी सच्चे सुख की अनुभूति होती है। उस समय विषयजन्य सुख तुच्छ, निस्सार और हेय प्रतीत होने लगता है। किन्तु संयम की साधना से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। अतएव जो आत्मानन्द की अनन्य अनुभूति करना चाहता है, उसे संयम की वरद शरण में आना चाहिए। यही ज्ञानियों द्वारा आचरित मार्ग है। इसी मार्ग पर चल कर अनन्त जीव सुख के भागी हुए हैं।

तीर्थंकर भगवान् का उपदेश सुनकर और उनके लोकोत्तर ऐश्वर्य को देखकर चक्रवर्ती वज्रनाभ को अपनी ऋद्धि नगण्य और निस्सार प्रतीत होने लगी। उनके पूर्वजन्म के वैराग्य के संस्कार जागृत हो उठे। उन्होंने उसी समय संयम धारण करने का सुदृढ़ संकल्प कर लिया।

तत्पश्चात् वज्रनाभ तीर्थंकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके अपने महल में आये। पुत्र को राज्य-भार सौंप कर आप दीक्षा लेने की तैयारी में संलग्न हो गए।

चक्रवर्ती आर्हती दीक्षा ग्रहण करने को सन्नद्ध हुए हैं, यह संवाद पाते ही उनके भव-भवान्तर के पाँचों सहयोगी भी साथ ही दीक्षा लेने को तैयार हो गए। अन्ततः सब की एक साथ दीक्षा हुई। छहों मुनि अब आन्तरिक शत्रुओं को जीतने के लिए प्रबल पराक्रम करने लगे।

शास्त्र मे कहा है—'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् ज्ञान की विद्यमानता में ही चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान अपूर्व ज्योति है। जब ज्ञान की ज्योति मे संयम के पथ पर मुमुक्षु अग्रसर होता है तो उसके भूलने-भटकने की कोई संभावना नहीं रहती। अतएव संयम के साधकों को ज्ञान की भी साधना अवश्य करनी चाहिए। यह सोच कर वज्रनाभ मुनि ने और शेष पाँच मुनियो ने भी शास्त्रों का अभ्यास किया। विनयपूर्वक आगम का अभ्यास करके वज्रनाभ मुनि बारह अगो के पारगामी हो गए और पाँच मुनि ग्यारह अंगो के पाठी हुए।

छहों मुनि दीर्घ काल तक तीर्थंकर भगवान् की छत्र-छाया मे विचरण करते रहे। जब चार अघातिया कर्मों का भी क्षय करके वज्रसेन तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त हुए तो चतुर्विध संघ ने मिल कर वज्रनाभ स्वामी को श्रमण संघ का उत्तराधिकारी बनाया।

तीर्थंकर के उत्तराधिकारी आचार्य वज्रनाभ विभिन्न जनपदों में विचरण करते हुए भव्य जीवों को संसार-सागर से पार उतारने लगे। वे निस्पृह भाव से, केवल कर्मों की निर्जरा हेतु बारह प्रकार की तपस्या करते और आत्मा के नन्दन-कानन में विहार किया करते थे। विनय और क्षमा के साथ तपस्या करने के प्रभाव से आचार्य वज्रनाभ को २८ प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। मगर आचार्य के अन्तःकरण में न किसी प्रकार की कुतूहल वृत्ति थी, न चमत्कार दिखला कर पूजा-प्रतिष्ठा पाने की लालसा थी और न किसी भी प्रकार की लोकैषणा

थी। अतएव उनकी समग्र लब्धियाँ, लब्धियाँ ही रह गईं। उन्होंने कभी किसी लब्धि का प्रयोग नहीं किया। वे निरन्तर संयम के गुणों का उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते गये और अपनी आत्मिक विशुद्धि बढ़ाते गये।

आचार्य वज्रनाभ ने अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी और प्रवचन का गुणानुवाद करके एवं इन पर प्रगाढ भक्ति-भाव रख कर अपने परिणामों में विशिष्ट उज्ज्वलता प्राप्त की। आप स्वयं निरन्तर ज्ञानोपार्जन मे और जिज्ञासु जनो को ज्ञानदान मे संलग्न रहते, विशुद्ध श्रद्धा का पालन करते, गुणवृद्धों के प्रति विनययुक्त व्यवहार करते, प्रातः-सायं उभय काल विधिपूर्वक षडावश्यकक्रिया का अनुष्ठान करते, विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते, परीषह एवं उपसर्ग आने पर भी धर्म में अटल रहते, ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा में लेश मात्र भी दोष न लगने देते, निदानहीन तपश्चरण करते, गुरु, ग्लान तपस्वी और नवदीक्षित मुनि की ग्लानिरहित सेवा करने में संकोच न करते, शम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य की दिनों दिन वृद्धि की, प्रवचन की विनय भक्ति की और जिनशासन की महिमा का विस्तार किया। यह सब तीर्थंकर गोत्र को उपार्जन करने के साधन हैं। इनमें उत्कृष्ट भावना होने से वज्रनाभ आचार्य ने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

बाहु मुनि को वृद्ध, रोगी और तपस्वी साधुओं की सेवा करने मे अनुपम आनन्द का अनुभव होता था। वे प्रति-दिन पाँच सौ साधुओं की सेवा बड़े चाव से करते थे। आहार,

पानी, औषध और हितकारी पथ्य पदार्थ निर्दोष लाकर मुनियों को देते और उन्हें साता उपजाते थे। निस्वार्थ सेवा और परसुखसाधन करने से उनको भी महान् पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ। उन्हें चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी होने योग्य पुण्यकर्म बँधा।

सुबाहु मुनि भी अत्यन्त सेवा प्रेमी थे। वे बड़े ही स्नेह भाव से वृद्ध मुनियों के हाथ पैर दबाते और रोगी की कठिन से कठिन परिचर्या करने में रंच मात्र भी ग्लानि नहीं करते थे। मल-मूत्र आदि अशुचि को साफ रखने में भी उन्हें संकोच न था। उन्होंने अपना शरीर मानों रुग्ण मुनियों के लिए ही अर्पित कर रक्खा था। इस विशुद्ध और निस्पृह सेवावृत्ति की उज्ज्वलता के कारण उन्होंने भी उच्चतर पुण्य-प्रकृति का बन्ध किया। चक्रवर्ती अतिशय बलवान् होते हैं किन्तु सुबाहु मुनि ने चक्रवर्ती से भी अधिक बलवंन होने योग्य पुण्यमय प्रकृति का उपार्जन किया।

पीठ और महापीठ मुनि भी निरन्तर ज्ञान–ध्यान में तल्लीन रहते थे, किन्तु बाहु और सुबाहु मुनि की प्रशंसा सुन कर ईर्षा करते थे। इन मुनियों की प्रशंसा सुन कर उनके मन में मलिन मात्सर्य भाव उत्पन्न होता था। उन्होने प्रकट में गुरु पर विश्वास और अन्तरंग मे अविश्वास रक्खा। इस प्रकार वे कपट का भी पोषण करते रहे। गुरु बाहु और सुबाहु की प्रशंसा करते तो यह समझते कि इनकी मिथ्या प्रशंसा की जा रही है। इस तरह कपट करने से पीठ और महापीठ को स्त्री

वेद का बंध पड़ गया। स्त्रीवेद का बंध करने के कारण पीठ मुनि का जीव ब्राह्मी और महापीठ मुनि का जीव सुन्दरी के रूप में जन्म लेगा।

फिर भी छहों मुनि उत्कृष्ट संयम का पालन कर रहे थे। उन्होंने चौदह लाख पूर्व तक संयम पाला। अन्त समय में संथारा किया। विशुद्ध परिणामों से पण्डित-मरण से शरीर का परित्याग किया।
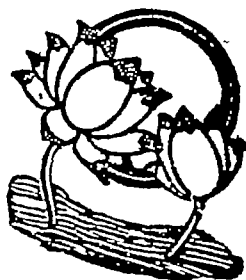
चतुर्थ भव

उक्त छहों मुनि समाधिपूर्वक, इहलोक और परलोक संबंधी सब प्रकार की कामनाओ से रहित होकर सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में उत्पन्न हुए।

पाँच अनुत्तर विमानों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सर्वार्थसिद्ध विमान इन्हीं पाँच में से एक है। बारहवें देवलोक के ऊपर नवग्रैवेयक और नवग्रैवेयक के ऊपर पाँच अनुत्तर विमान है। नवग्रैवेयक के नौ विमान एक दूसरे के ऊपर हैं, किन्तु अनुत्तर विमान ऐसे नहीं हैं।

अनुत्तर विमान नवग्रैवेयक से एक रज्जु ऊपर है। यह कुल पाँच विमान है। इनमें चार विमान चार दिशाओ में हैं और एक विमान उन चारों के बीच में है। पूर्व दिशा में विजय-नामक विमान, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त और उत्तर में अपराजित विमान है। इनके बीच में जो पाँचवाँ विमान है, उसका नाम सर्वार्थसिद्ध है।

सर्वार्थसिद्ध विमान की छत में बीचों बीच एक चंदोवा है, जिसमें २५३ मोती लगे हैं। यह मोती जब हवा से आपस

में टकराते हैं, तब उनमें से छह रागों और छत्तीस रागिनियों का उद्‌गम होता है। जैसे मध्याह्न का सूर्य सभी को अपने-अपने मस्तक पर दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार यह चंदोवा भी सर्वार्थसिद्ध विमान के प्रत्येक देवता को अपने-अपने मस्तक पर दिखाई देता है।

सर्वार्थसिद्ध विमान के देव सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। सब सम्यग्दृष्टि होते हैं। शुद्ध संयम का उत्कृष्ट रूप से पालन करने वाले साधु ही इस विमान में जन्म लेते हैं। यहाँ के सब देव एक भवावतारी ही होते हैं; अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर मनुष्य भव धारण करते हैं और उसी भव से मुक्ति पा लेते हैं।

सर्वार्थसिद्ध विमान समस्त देव विमानों में परमोत्तम है और वहाँ का सुख भी अनुपम है। उक्त छहों मुनि इसी विमान में उत्पन्न हुए। उन्हें निम्न लिखित बातों की प्राप्ति हुई:—

१—तेतीस सागरोपम की आयु प्राप्त हुई।

२—संसार की सर्वोत्कृष्ट सुख सामग्री के स्वामी हुए।

३—तेतीस हजार वर्ष में आहार करने की इच्छा।

४—तेतीस पक्ष (पखवाड़ों) में श्वासोच्छ्‌वास।

५—चौदह पूर्वों को ज्ञान चर्चा में समय व्यतीत करना।

सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों को कदाचित् किसी सूक्ष्म और गूढ़ तात्त्विक विषय में संदेह उत्पन्न होता है तो अपनी

शय्या से नीचे उतर कर तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार करके मन से ही प्रश्न करते हैं। भगवान् उस प्रश्न के उत्तर को मनोमय पुद्गलों में परिणत करते हैं और सर्वार्थसिद्ध का वह प्रश्नकर्त्ता देव अपने अवधिज्ञान से ग्रहण करके समाधान प्राप्त कर लेता है।

सांसारिक सुखों की चरम सीमा इसी विमान में है। उक्त छहों मुनि अपनी धर्मक्रिया के फलस्वरूप उस श्रेष्ठतम सुख के भागी बने।

छहों जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से चय कर भरत क्षेत्र में जन्म लेंगे और सम्यगज्ञान एवं चारित्र की आराधना करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। पीठ मुनि के रूप में ब्राह्मी का यह चौथा पूर्वभव है।

पाँचवाँ भव

१—विषमता का बीज
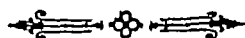
पहले जो वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि पूर्व वर्णित छहों जीव, पिछले चार भवों में समान स्थिति में रहते आये हैं। पहले भव में सबने मुनि की सेवा की, दूसरे भव में सब बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए, तीसरे भव में एक साथ समान परिस्थितियों में रहे, और चौथे भव में सब सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र हुए। किन्तु इस पाँचवें भव में वैसी समानता नहीं रही। उनकी स्थिति में किंचित् अन्तर पड़ गया है। इस अन्तर का कारण उनकी भावना में विसदृशता उत्पन्न हो जाना है। भावना में भिन्नता आई तो कर्मबन्ध में भी विसदृशता आ गई और बंध मे विसदृशता आने से फल में अन्तर पड़ गया। कहा भी है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

अर्थात्—जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः कर्म बड़े बलवान् हैं। वे सबल, निर्बल, राजा, रंक किसी का लिहाज नहीं करते। सबको अपने-अपने कर्त्तव्य का फल देते हैं। एक कवि ने कितना अच्छा कहा है:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो सदा सकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

कर्म के प्रभाव से ब्रह्माजी को कुंभार के समान काम में जुटा रहना पड़ता है। कर्म की बदौलत विष्णु को दश अवतार लेने पड़े और सदैव संकटों का सामना करना पडा। कर्म के कारण महादेव को नर की खोपड़ी में भीख लेनी पडी। कर्म के उदय से ज्योतिष्कों के अधिपति सूर्य को प्रतिदिन आकाश मे भटकना पड़ता है! हे कर्म! तुझे हम हाथ जोडते हैं!

अभिप्राय यह है कि कोई कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो, वह कर्म-फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं पा सकता। संसार के समस्त प्राणी कर्मों के वशवर्ती है। जो भी सुख या दुःख आज भोगने पड़ रहे हैं, उनके लिए कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं है। अपने सुख-दु.ख का कारण जीव स्वयं ही है। जो जैसा करता हैं, वैसा भोगता है। ठीक ही कहा है:—

स्वयं कृत कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा ॥

अर्थात्—आत्मा ने पूर्व काल में स्वय जो कर्म उपार्जन किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल उसे मिलता है। यदि दूसरे के दिये सुख-दुःख को आत्मा भोगने लगे तो उसके निज के किये कर्म निरर्थक-निष्फल ही हो जाएँ !

संसारी जीव योग और कषाय के अधीन होकर प्रति समय कर्मों का बंध करता है। वह कर्म थोड़े नहीं, अनन्तानन्त स्पर्द्धकों के रूप में होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जीव एक समय के लिए भी अगर गफलत में पड़ गया, अशुभ भावना के अप्रशस्त पथ पर चला गया तो अनन्तानन्त अशुभ कर्म-स्पर्द्धकों का बंध कर लेता है और यदि शुभ भावनाओं के पवित्र क्षेत्र में विचरा तो अनन्तानन्त शुभ कर्मस्पर्द्धकों का बंध करता है। इस प्रकार हमारे जीवन में एक-एक समय का भी बड़ा भारी मूल्य है। एक पल की भावनाओं का भी महँगा मूल्य चुकाना पड़ता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को कहा था कि तू एक समय मात्र भी प्रमाद के वशीभूत मत हो। महाप्रभु महावीर की यह मंगलमयी देशना केवल गौतम स्वामी के लिए नहीं है। हम सभी के लिए है। यह देशना हमारे जीवन के लिए बहुत ही उपयोगी चीज है। अतएव हमें सदैव अप्रमत्त दशा में रहने का प्रयत्न करना चाहिए और अशुभ कर्म-बन्धन से अपना बचाव करना चाहिए।

जैसे वट के छोटे-से बीज में विशालकाय वृक्ष छिपा रहता है, उसी प्रकार सूक्ष्म कर्म वर्गणाओं में भी विपुल फल देने की शक्ति विद्यमान रहती है।

हमारे पूर्वपरिचित छहों साथियों की प्रकट साधना यद्यपि समान थी, फिर भी सूक्ष्म परिणामो की विभिन्नता के कारण विपाक में बहुत अन्तर पड़ गया।

जीवानन्द के जीव ने राग-द्वेष से रहित होकर, अनासक्त, निस्पृह और निष्काम भाव से धर्मक्रिया की थी। उसके फलस्वरूप उसने विश्ववंद्य तीर्थंकर का पद प्राप्त किया। सर्वार्थसिद्ध विमान से चय कर जीवानन्द की आत्मा नाभिराज की पत्नी मरुदेवी माता की कूंख में अवतरित हुई। यथासमय जन्म होने पर तीनो लोकों में आनन्द छा गया। स्वर्ग से आकर इन्द्रों और अन्य देवों ने भगवान् तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाया। उनका नाम ऋषभदेव रक्खा गया। यही भगवान् ऋषभ आदिनाथ और आदिदेव के नाम से भी विख्यात हुए। भरत क्षेत्र में, इस अवसर्पिणी काल में, वे प्रथम तीर्थंकर हुए।

केशव का जीव सुमंगला के रूप में उत्पन्न हुआ। कहाँ आदिदेव ऋषभ और कहाँ सुमंगला! दोनो में पति और पत्नी का अन्तर हो गया! जीवों की सूक्ष्म प्रतीत होने वाली मानसिक परिणतियाँ फल में कितनी विभिन्नता पैदा कर देती हैं, यह बात इस घटना से भलीभाँति समझ में आ जाएगी।

ऋषभदेव का पाणिग्रहण सुमंगला और सुनन्दा के साथ हुआ था। सुमंगला के गर्भ से बाहु का जीव भरत के रूप मे

और पीठ का जीव ब्राह्मी के रूप में अवतरित हुआ। सुनन्दा के उदर से सुबाहु का जीव बाहुबली के रूप में और महापीठ का जीव सुन्दरी के रूप में जन्मा। भरत और ब्राह्मी ने तथा बाहुबली और सुन्दरी ने युगल के रूप मे जन्म लिया था। सुनन्दा देवी के गर्भ से क्रमशः ४६ युगल पुत्रों ने और जन्म लिया। इस प्रकार सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ मिलकर ऋषभदेवजी की १०२ सन्तति थी।

पीठ और महापीठ को गुरु के वचनों पर विश्वास होता, उनका बाहर और भीतर एक-सा होता, वे गुणीजनों की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते तो उन्हे नारी के रूप मे जन्म न लेना पड़ता।

गुरु ने कहा—बाहु और सुबाहु धन्य हैं जो ग्लान, तपस्वी एवं नवदीक्षित मुनियों की प्रीति के साथ सेवा करते हैं!

गुरु का यह वाक्य सुनकर किसी को क्यों ईर्षा होती चाहिए थी? इस वाक्य के सुनने में क्या दुःख था? इस वाक्य को सुनकर ईर्षा करने से, कपट करने से तत्काल कौन-सा सुख हुआ? उलटा पवित्र मन मलिन हो गया। परिणामों की उज्ज्वलता में कमी आ गई। ईर्षा की आग ने प्रशम रस के निर्झर को सोख लिया। भविष्य जितना उज्ज्वल बनना चाहिए था, नहीं बन सका।

मनुष्य मे अप्रशस्त वृत्तियाँ है, उनमें ईर्षा की वृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ईर्षा की आग को क्यों

मनुष्य अपने अन्तःकरण में पोषण करता है ? गुणियों का गुणगान प्रमुदित भाव से सुन लेने में कोई दुःख नहीं है। गुणगान को सहन न करने से तत्काल भी कोई सुख नहीं मिलता। वल्कि चित्त में क्षोभ होता है, व्याकुलता होती है। भविष्य का मंगल भस्म होकर अमंगल बन जाता है।

ठोकर खाने वाला पीड़ा का अनुभव करता है, मगर दर्शक को तो यह सचेत कर ही देता है ! पीठ और महापीठ का चरित हमारे लिए पथप्रदर्शक होना चाहिए !

हमारा अभिप्राय पीठ और महापीठ की टीका करने का नहीं है। ये महापुरुष तो अपना हिसाब चुकता कर चुके है—कृतकार्य हो चुके हैं। परमात्मपद की प्राप्ति करके अनन्त चिदानन्द की उपलब्धि कर चुके हैं। हम इसी पथ के पथिक हैं, तो जहाँ इन्होंने ठोकर खाई वहाँ हमें सँभल कर चलना है। धर्मकथानुयोग का यही महान् संदेश है । महापुरुषों की जीवनियाँ हमारे लिए जाज्वल्य-मान ज्योति हैं। इस विमल आलोक में हम अपने पथ पर अग्रसर होंगे तो बीच की चट्टानों से बच जाएँगे, कण्टकों से सुरक्षित रह सकेंगे और बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने अभीप्सित लक्ष्य पर पहुँच सकेंगे।

२-नर और नारी

नर और नारी जीव-जगत् के दो प्रधान अंग हैं। संसार में दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। सृष्टि की जो प्रक्रिया चल रही है, उसमें दोनों की महत्त्वपूर्ण स्थिति है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में सृष्टि की कल्पना तक नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में, गभीरता के साथ विचार किया जाय तो नर और नारी में से कौन ऊँचा और कौन नीचा है, कौन उत्कृष्ट और कौन निकृष्ट है, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। एक सिक्के के दो बाजुओं में से कौन बाजू उत्तम और कौन अधम है? इसी प्रकार नर और नारी में से कौन हीन और कौन महान् है, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है।

आध्यात्मिक दृष्टि कोण से विचार किया जाय तो आत्मा, आत्मा ही है। वह न नर है, न नारी है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप में किसी भी प्रकार का लिंगभेद नहीं है। दोनों एक समान सच्चिदानन्द के प्रकाशमय पुञ्ज हैं। नर और नारी का विभेद कर्म रूपी उपाधि ने उत्पन्न किया है।

व्यावहारिक दृष्टि से नर-नारी के आकार में भिन्नता है। इस भिन्नता के कारण समाज में स्त्री और पुरुष का स्थान भी अलग-अलग बन गया है। नाना देशों में नाना प्रकार की

परम्पराएं चल रही हैं। पारिवारिक सुविधा के लिहाज से दोनों के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भी अलग अलग नियत किये हैं। किन्तु उन कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों में उच्चता और नीचता का आरोप करना उचित नहीं है। भारतवर्ष में नारी का कर्त्तव्यक्षेत्र गृह के भीतर है और नर का घर से बाहर। बाहर का कर्त्तव्य जितना महत्त्वपूर्ण है, जीवन की दृष्टि से भीतर का कर्त्तव्य भी उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य के इस भेद के कारण हीनता और महत्ता की कल्पना करना भी योग्य नहीं है।

समाज के आधार शिशु हैं और उनकी संस्कृति का निर्माण माता की ममतामयी गोद में होता है। अतएव सामाजिक दृष्टि से माता का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य को आज लोग भूल-से गये हैं, किन्तु कर्मभूमि की आदि में, जब समाज और परिवार की नींव डाली गई थी, इस बात पर पूरा ध्यान दिया गया था।

भगवान् ऋषभदेव ने समाज-व्यवस्था की स्थापना की थी। उनकी संतति में, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, पुत्र भी थे और कन्याएं भी थीं। ऋषभदेवजी से पहले अध्ययन-अध्यापन की कोई प्रथा नहीं थी। उन्होंने जैसे कृषि, व्यापार, कलाकौशल आदि की शिक्षा दी, उसी प्रकार लिपि, अंक आदि की भी शिक्षा दी। ऋषभदेवजी ने अपनी कन्या ब्राह्मी को ही सर्वप्रथम लिपि लिखना सिखलाया। उसके बाद लिपि का प्रचलन हुआ और उनके पुत्रों ने तथा दूसरे लोगों ने

लिपि लिखना सीखा। इस महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति स्वरूप उस लिपि का नाम ही 'ब्राह्मीलिपि' पड़ गया। यह नाम आज तक प्रचलित है। भगवती सूत्र के मंगलाचरण में कहा गया है।

नमो बंभीए लिवीए।

अर्थात्—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

इसी प्रकार आदिनाथ ने अपनी द्वितीय कन्या सुन्दरी को अंकों का ज्ञान सबसे पहले दिया था। सुन्दरी ही इस कर्मभूमि के आदि काल में गणित की पहली विद्यार्थिनी थी।

सौ पुत्रों को छोड़ कर कन्याओं को प्रथम शिक्षा देने में ऋषभदेवजी का क्या हेतु था ? इस प्रश्न पर अगर विचार किया जाय तो नर और नारी को लेकर उलझी हुई अनेक आधुनिक समस्याएं अनायास ही हल हो सकती हैं। भगवान् ऋषभदेवजी ने अपने कार्य के द्वारा यह प्रदर्शित कर दिया है कि नारी का स्थान समाज मे नर की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जिस देश, जाति या समाज में स्त्री और पुरुष को समान तत्त्व माना जाता है, उसकी उन्नति होती है। हमारे यहाँ के विद्वान् कह गये है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

अर्थात्—जहाँ नारी की प्रतिष्ठा की जाती है, वहाँ देवता—दिव्य शक्ति से सम्पन्न—पुरुषों का रमण होता है।

जिस देश ने और जिस समाज ने इस सिद्धान्त का विस्मरण कर दिया और स्त्री-जाति को हीन समझा है, वह देश और वह समाज आप दीन, हीन और अपंग बन गया।

आदिनाथ भगवान् ने पुत्रों को राज्य दिया तो पुत्रियों को अंकविद्या और अक्षरविद्या दी। इस प्रकार उन्होंने पुत्र और पुत्री को दो आँख समझा। किसी भी एक आँख का अभाव या हीनता शरीर की विकृति है, दूषण है। एक आँख वाला काणा कहलाता है और छोटी-बड़ी आँख वाला भी विद्रूप समझा जाता है। अतएव जैसे समान दो आँखो से ही शरीर की शोभा है, उसी प्रकार पुत्रों और पुत्रियो की समानता में ही देश और समाज की शोभा है।

ब्राह्मी विदुषी बन कर सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

३-सुखमय जीवन

जिस युग में ब्राह्मीजी ने जन्म लिया वह युग आधुनिक युग से सर्वथा विलक्षण था। वह भोगभूमि और कर्म-भूमि की सन्धि का निराला ही काल था। अतएव उस युग में आज की तरह दुःखो का दौर शुरु नहीं हुआ था। उस समय सर्वत्र सुख का साम्राज्य था।

यों तो संसार दुःखो का घर है और दुःख के कारण भी असंख्य हैं, फिर भी यदि उन कारणों का वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) आवश्यकता पूर्त्ति के साधनों का अभाव (२) अपमान (३) वियोग और (४) हानि। तीसरे आरे में इन चारों कारणों का प्रायः अभाव था। आवश्यकताएं उस समय अत्यल्प थीं और जो थीं उनकी पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती थी। संग्रहवृत्ति उस समय उत्पन्न नहीं हुई थी, अतएव न कोई किसी से छोटा और न कोई किसी से बडा था। उस समय अहंकार ही न था तो अपमान कैसा? अहंकार को चोट लगना ही तो अपमान कहलाता है। इसके अतिरिक्त युगल साथ-साथ जन्म लेता था और साथ ही स्वर्गगामी होता था। जिसका संयोग होता

उसका वियोग कभी किसी ने नहीं देखा था। अतएव उस समय वियोगजनित दुःख का भी अभाव था। फिर काया के सिवाय और कोई माया ही नहीं थी जो चली जाय! उस समय किसी ने कुछ भी नहीं खोया!

मगर उन्हीं दिनों—तीसरे आरे के अन्तिम समय में, जब ब्राह्मी का जन्म हुआ, कल्पवृक्षों का विच्छेद हो गया और भगवान् ऋषभदेव ने जीवनयापन के लिए कर्मवृत्ति की स्थापना कर दी। इस प्रकार बुढिया मरी और बालक जन्मा! रहे तीन के तीन! कल्पवृक्षों के लुप्त हो जाने पर युगप्रवर्त्तक ऋषभदेवजी ने एक नया मार्ग खोल दिया। इस प्रकार दुःख के कारण दब गये। कर्मयुग का प्रारम्भ हो जाने पर भी मोह-राजा उस समय माया देवी में इतने मगन थे कि उन्हें लोगों के पास फटकने की फुर्सत ही नहीं थी। जब मोह न हो तो संयोग और वियाग समान हैं। वस्तुतः संयोग और वियोग से सुख और दुःख नहीं होते, मोह ही उन्हें जन्म देता है। यही कारण है कि अपने नौजवान पड़ोसी की मृत्यु से मनुष्य दुखी नहीं होता, किन्तु अपनी अस्सी वर्ष की बुढ़िया दादी की मृत्यु से विकल हो उठता है! दादी के प्रति ममता का भाव है न! बस वही भाव दुःख का सर्जक है!

अभिप्राय यह है कि उस समय का मानव-समाज आज की भाँति विविध प्रकार के दुःखों और अभावों से ग्रस्त नहीं था। उस समय का जीवन अत्यन्त सादा, सात्विक और भद्र था और इसी कारण सुखमय भी था। ब्राह्मीजी का जीवन भी

आनन्द की लहरों में लहरा रहा था। देवेन्द्रवृन्दवन्दित भगवान् आदिदेव जिनके पिता, षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती भरत जैसे भाई और स्नेह पूर्ण विपुल परिवार हो, उसे भला किस चीज़ की कमी रह सकती है? ब्राह्मीजी मनोवांछित सुखों का उपभोग करती हुई काल व्यतीत करती थीं।

४-आदिनाथ का अभिनिष्क्रमण
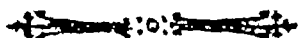
तत्कालीन मनुष्यों के जीवन को एक नवीन सांचे में ढालकर, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था करके तथा अपने पुत्रों को राज्य देकर ऋषभदेवजी ने धार्मिक जीवन का मार्ग अपनाया। लौकिक पथ-प्रदर्शन करने के पश्चात् धार्मिक पथ भी तो उन्हें ही प्रदर्शित करना था! अतएव उन्होंने स्वयं दीक्षा ग्रहण की और छह महीने का अनशन धारण किया। बाद में छह महीने तक विधिपूर्वक निर्दोष आहार नहीं मिला। इस कारण वे एक वर्ष तक निराहार रहे! घोर तपश्चर्या करते हुए भगवान् एक बार विनीता नगरी के पास पुरिमताल के शकटमुख नामक उपवन में पधारे। अष्टम तप करके ध्यानस्थ खड़े थे कि परिणामों की उज्ज्वलतम धारा से घातिया कर्मों का क्षय हो गया। अब भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पद को प्राप्त हुए। इन्द्रों ने मिलकर ज्ञान कल्याणक के महोत्सव की विराट आयोजना की। समवसरण की रचना की।

वनपाल ने भरत महाराज को प्रभु के कैवल्य लाभ का शुभ सन्देश सुनाया। भरतजी ने जब यह संदेश सुना, उसी समय उन्हें आयुधशाला में चक्ररत्न और अन्तःपुर में पुत्ररत्न के उत्पन्न होने का भी आनन्द प्रद समाचार मिला।

अब भरत महाराज के सामने एक समस्या उपस्थित हो गई। पहले भगवान् के दर्शनार्थ जाना चाहिए या चक्ररत्न की पूजा करना चाहिए अथवा पुत्र-जन्म का उत्सव मनाना चाहिए? पुत्र जन्म के उत्सव में विलम्ब होने से तो कोई हानि नहीं थी, किन्तु चक्ररत्न की पूजा में देर होने से उसका फिर विलीन हो जाना संभव था! एक तरफ लोकोत्तर कर्त्तव्य की प्रेरणा थी तो दूसरी तरफ लौकिक कर्त्तव्य की पुकार थी! एक ओर धार्मिक लाभ और दूसरी ओर आसाधारण लौकिक लाभ था!

ऐसे अवसर पर साधारण मनुष्य लोकोत्तर कर्त्तव्य की पुकार को अनसुनी कर देता है और लौकिक लाभ का लोभ संवरण नहीं कर सकता। परन्तु महाराज भरत साधारण श्रेणी के पुरुष नहीं थे। वे अनेक जन्मों के धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न थे। अतएव उन्हें अपना कर्त्तव्य स्थिर करने में अधिक विलम्ब नहीं लगा। चक्ररत्न की उपेक्षा करके वे सर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में जाने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने सोचा-चक्ररत्न आदि पौद्गलिक वैभव प्रदान कर सकते हैं। पौद्गलिक वैभव की अनन्त वार प्राप्ति हो चुकी है फिर भी दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति नहीं मिली। दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पाने का सच्चा साधन तो भगवान् के पुनीत दर्शन करना ही है! इस परमार्थ भूत लाभ के सामने सारे ससार की विभूति भी नगण्य है! अतएव चक्ररत्न रहे तो रहे और जाय तो जाय, मैं तो पहले तीर्थंकर देवाधिदेव के ही दर्शन करूँगा।

भरतजी ने समग्र नगरी मे भगवान् के पदार्पण की और उनके कैवल्य लाभ की उद्घोषणा करवा दी। आप माता मरुदेवी, ब्राह्मी आदि समस्त परिवार के साथ, चतुरंगी सेना सजा कर भगवान् के दर्शनार्थ गये।

निर्विकार निर्मम वीतराग प्रभु के अममत्व भाव का अनुभव करके माता मरुदेवी की मोहदशा का निवारण हुआ। उन्हें हाथी के हौदे पर ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया और उसी समय मोक्ष की भी प्राप्ति हो गई।

अहा! आत्मा के उत्थान और पतन में भावना का स्थान कितना प्रभावपूर्ण है! जगन्माता मरुदेवी इसका ज्वलंत उदाहरण है।
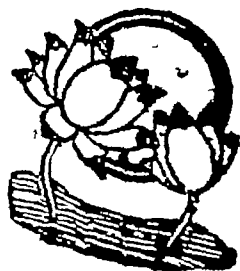
९--विरक्ति-प्राप्ति

माता मरुदेवी ब्राह्मीजी की दादी थीं। जिस ढंग से अचानक ही उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई, उससे ब्राह्मी को उद्वेग होना स्वाभाविक था। दादी के इस आकस्मिक वियोग से उन्हें अत्यन्त खिन्नता हुई। किन्तु ब्राह्मी की आत्मा भी भव-भवान्तर के आध्यात्मिक संस्कारों से विभूषित थी। अतएव उनकी खिन्नता ने अप्रशस्त रूप ग्रहण न करके प्रशस्त रूप ही ग्रहण किया।

एक ही घटना विभिन्न प्रकार के संस्कार वाले व्यक्तियों के हृदय पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव अंकित करती है। इष्ट वस्तु का वियोग होने पर ज्ञानी जन संसार की अनित्यता और सासारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का पारमार्थिक चिन्तन करके वैराग्यलाभ करते हैं और पर-पदार्थों के प्रति ममत्वहीन बनने का प्रयास करते हैं। किन्तु अज्ञानी जीव आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जाते हैं। हाय-हाय करते हैं। रोते हैं, विलाप करते हैं और आँसू बहाते हैं। ऐसा करने पर भी कुछ लाभ नहीं होता। जिस वस्तु का वियोग हो चुका है, वह फिर मिल नहीं सकती। उलटा अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

इस प्रकार जो घटना ज्ञानी के लिए निर्जरा का कारण होती है, वही अज्ञानी के लिए आस्रव का कारण बन जाती है। शास्त्र में कहा है:—

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा ।।

—श्रीमदाचारांगसूत्र

अर्थात्—आस्रव के कारण ज्ञानी के लिए निर्जरा के कारण हो जाते हैं और निर्जरा के कारण भी अज्ञानी के लिए आस्रव के कारण बन जाते हैं। सारांश यह है कि घटना एक-सी होने पर भी विभिन्न भावनाएँ विभिन्न असर पैदा कर देती हैं।

सती ब्राह्मी की आत्मा ज्ञान से सम्पन्न थी। दादी के वियोग की घटना को उन्होंने निर्जरा का कारण बना लिया। इस घटना से संसार का सारहीन, अशाश्वत और क्षणभंगुर स्वरूप उन्हें प्रतिभासित होने लगा।

कितना उज्ज्वल आदर्श है ! कैसा बोधप्रद पाठ है ! ब्राह्मी जैसी महान् आत्मा ने कितना ऊँचा आदर्श हमारे समक्ष रख दिया है ! सब लोग मरुदेवी माता तो हैं नहीं कि जीवन में किसी इष्ट जन का वियोग सहन न करना पडे ! उनका पुण्य बड़ा विलक्षण था। अपने जीते जी उन्हें किसी का दारुण वियोग सहन नहीं करना पड़ा। संसारी जीवों को अनेक बार वियोग सहन करने का प्रसंग आता है। परन्तु वे यदि सावधान हों और तत्त्व का चिन्तन करें तो दारुण से दारुण घटना भी उनके कल्याण का हेतु बन सकती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का

कल्याण और अकल्याण उसी के अधीन है। वह अपने जीवन को ऊँचाई की ओर भी ले जा सकता है और नीचाई की ओर भी ले जा सकता है। कहा भी है:—

नन्दन्ति मन्दा: श्रियमाप्य नित्यं,
　　परं विषीदन्ति विपद्गृहीता ।
विवेकदृष्टचा चरतां जनाना,
　　श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित् ॥

अर्थात—अज्ञान के वशीभूत हुए प्राणी श्री-विभूति को पाकर फूले नहीं समाते और जब विपत्ति के चंगुल में फँस जाते हैं तो घोर विषाद से मलिन हो जाते हैं। किन्तु विवेक के साथ व्यवहार करने वाले मनुष्यो के लिए न सम्पत्ति कोई चीज़ है और न विपत्ति ही कोई चीज़ है! उनके अन्त.करण पर दोनों का कुछ भी असर नहीं पड़ता।

हे भव्य! तेरे सुख और दुःख की चाबी तेरी ही मुट्ठी में है। एक चाबी से तू अपने लिए अखण्ड शान्ति और शाश्वत सुख का सुरम्य द्वार खोल सकता है और दूसरी चाबी से नरक का द्वार खोल सकता है। तेरा जी चाहे, वही द्वार खोल ले!

सती ब्राह्मी की भव्य भावना ने उनके लिए महामंगल के मनोरम मार्ग का निर्माण कर दिया। वे संवेग और निर्वेद की उद्दाम ऊर्मियों में बहती हुई भगवान् आदिनाथ के समवरण में गईं। पाँच अभिगम पूर्ण करके उन्होने प्रभु को यथाविधि वन्दन और नमस्कार किया। फिर अपने योग्य स्थान पर बैठ गईं।

६--उपदेश श्रवण
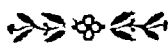
भगवान् ऋषभदेव चौतीस अतिशयों और पैंतीस वाणी के गुणों से विभूषित थे। भगवान् के अन्तरतर से अहिंसा, अनुकम्पा और करुणा का अतिशय शीतल निर्झर प्रवाहित हो रहा था। अविश्रान्त गति से वहने वाले उस प्रशम-रस से परिपूर्ण पीयूष का प्रभाव प्राणी मात्र पर पड़ रहा था। जाति विरोधी पशुगण भी परस्पर निर्वैर हो गये थे। सिंह और हिरण, बिल्ली और कुत्ता भी शरीर से शरीर मिला कर बैठे थे और महाप्रभु की वाणी को कर्ण-पथ से अपने अन्तःकरण में उतार रहे थे। बारह प्रकार की परिषद् आनन्दविभोर होकर अनुपम वचनामृत का पान कर रही थी। भगवान् के वचन मधु के समान मधुर, नवनीत के समान कोमल और सुधा के सदृश आनन्दप्रद थे। उनकी वाणी क्रमबद्ध थी, पूर्वापरविरोध से रहित थी और सत्य तत्त्व का प्रकाश करने वाली थी। उस वाणी की सबसे बड़ी विलक्षणता यह थी कि वह प्रत्येक श्रोता को अपनी-अपनी मातृ भाषा के समान प्रतीत होती थी। आबालवृद्ध सब समान रूप से उसे समझने में समर्थ थे।

भगवान् कह रहे थे--जीव और अजीव तत्त्व का स्वरूप एक दूसरे से विरोधी है; फिर भी उन दोनों का संबंध हो रहा

है। यही संसार है। जीव और अजीव का संयोग संबंध अनादि काल से चला आ रहा है। जब तक यह संबंध कायम है तब तक संसार है। सद्गुरु का या अरिहन्त भगवान् का निमित्त मिलने पर जीव को जब अपने विशुद्ध स्वरूप का भान हो जाता है, जीव अपने आपको अजीव से भिन्न पदार्थ समझ लेता है और समस्त परपदार्थों का, यहाँ तक कि शरीर का भी ममत्व त्याग देता है, तब जीव की उत्क्रान्ति आरम्भ होती है। शनैः शनैः उसके उपाधिजनित विकार हटते जाते हैं और आत्मिक गुणों का विकास होता जाता है। ज्यों-ज्यों रत्नत्रय का प्रकर्ष होता जाता है, आत्मा का उत्कर्ष बढ़ता जाता है। अन्त में जीव शुद्ध स्वरूप होकर परमपद पाता है।

भव्य जीवो! परमात्मपद की प्राप्ति करना ही आत्मा के लिए परम पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ की साधना से मानव जीवन सफल होता है। ज्ञानी जन इसी साधना के पथ पर चले हैं और मुमुक्षुओं को यही प्रेरणा करते हैं। यथा—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चम्,
विसृज विसृज मोहं, विद्धि विद्धि स्वतत्वम्।
कलय कलय वृत्त, पश्य पश्य स्वरूप,
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥

हे जीव! अगर तू संसार के दुःखों से ऊब गया हो, अगर तेरे अन्तःकरण में इस दुःख से छुटकारा पाने की अभिलाषा जागृत हुई हो तो सबसे पहले तू पर-पदार्थों के संसर्ग

से विरत हो विरत हो, त्याग दे दुनिया के प्रपंचों को त्याग दे। छोड़, मोह को छोड़। अपने स्वरूप को समझ, समझ। सम्यक् चारित्र को अंगीकार कर और अपने स्वरूप को देख। मुक्ति के अनिर्वचनीय सुख को प्राप्त करने के लिए पुरुपार्थ कर, पुरुपार्थ कर।

ज्ञानियों की इस प्रेरणा को मानकर संयम और तप का अनुष्ठान करने वाला आत्मा अनन्त आनन्द धाम को प्राप्त होता है। उस परम धाम में न जरा है, न जन्म है, न मृत्यु है, न संयोग है, न वियोग है और न किसी भी प्रकार की उपाधि है।

संसार नानाविध दुःखों का घर है। वहाँ सबसे बड़ा और घोर दुःख मृत्यु का है। वास्तव में मृत्यु के दुःख के समान और कोई दुःख नहीं है। किन्तु हजारों और लाखों प्रयत्न करने पर भी कोई संसारी जीव मृत्यु के इस दुःख से नहीं बच सकता। संसार की कोई भी शक्ति आयु पूर्ण होने पर यमराज के चंगुल से जीव को बचा नहीं सकती।

अम्बर में, पाताल लोक मे, या समुद्र गहरे में।
इन्द्रभवन मे, शैलगुफा में, सेना के पहरे में।
वज्रविनिर्मित गढ में, या अन्यत्र कही छिपजाना,
पर भाई ! यम के फ़न्दे मे अन्त पड़ेगा आना ॥

और

सूने और गहन वन में जब सिंह हिरण को पाता,
तब उसकी रक्षा करने को कौन सामने आता ?

इसी भांति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचावे भू पर ?

धन के अक्षय भंडार भरे रह जाते है चतुरंगी सेना सजी हुई खड़ी रह जाती है, परिवार के लोग टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं, किसी की कुछ नहीं चलती ! मृत्यु के आने पर यह जीव विवश हो कर काल का ग्रास बन ही जाता है।

मृत्यु के समय किस प्रकार की वेदना होती है, यह बतलाना भाषा के सामर्थ्य से बाहर है। कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति के रोम–रोम में सुइयाँ चुभा दी जाएं, उसे किसी चौराहे पर छोड़ दिया जाय और फिर ठोकरें लगा–लगा कर उसे इधर से उधर ठुकराया जाय तो सुइयों की तीखी चुभन से उसे अंग–अंग में कितनी वेदना होगी ? उसकी वेदना को व्यक्त करने की शक्ति शब्दों में नहीं है। उस वेदना को भोगने वाला ही अनुभव कर सकता है। परन्तु मृत्यु समय की वेदना तो उससे भी अनन्तगुणी होती है ! उसका वर्णन करने के लिए शब्द कहाँ से आएं ?

यह आत्मा अनन्त–अनन्त वार निगोद पर्याय में उत्पन्न हुई है और उस पर्याय मे एक मुहूर्त्त मे पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस वार जन्म और मरण करती रही है। एक श्वास लेने में जितना समय लगता है, उतने समय में तो अठारह वार इसे जन्म–मरण की वेदना भुगतनी पड़ी है ! किन्तु आज उस वेदना का स्मरण नहीं रहा ! अनन्तानन्त जीव आज भी वह वेदना

भोग रहे हैं ! क्या विस्मय है कि आज जो मनुष्य है वह शीघ्र ही फिर उसी निगोद पर्याय में उत्पन्न होकर उन्हीं दुःखों का पात्र बन जाय ! जो जीव मृत्यु को जीतने का प्रयास नहीं करते; संयम और तप का आश्रय नहीं लेते, उन्हे नरक और निगोद में जाना ही पड़ता है !

हे भव्य जीवो ! मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का मार्ग विकारों को जीतना है। जिसने राग-द्वेष को जीत लिया और समभाव प्राप्त कर लिया, वह मृत्युञ्जय हो गया ! उसने अजर-अमर पद पा लिया ! अन्त में भगवान् ने फर्माया'—

संबुज्झह किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

हे जीव ! समझ। समझता क्यों नहीं है ? परलोक में सम्यक्बोधि प्राप्त होना कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ फिर कभी लौट कर नहीं आतीं। फिर से मनुष्य भव पा लेना आसान नहीं है।

यह स्वर्ण-अवसर है। इस अवसर का उपयोग कर ले। प्रमाद न कर। जन्म-मरण का सदा के लिए अन्त करने की साधना का यही सर्वोत्तम अवसर है। मोह-ममता तज और समता को भेज। कर्मों का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ कर और अजर-अमर बन जा।

भगवान् आदिनाथ ने किन शब्दों का प्रयोग किया होगा, ठीक-ठीक कहना कठिन है। फिर भी अरिहन्तों के शासन की मुख्य ध्वनि तो यही है। आगमों में जो उपाय जरा-मरण को जीतने का बतलाया गया है, उसका आशय यही है। अतएव इसे भगवान् का उपदेश मानने में तनिक भी अनौचित्य नहीं है।

भगवान् के वैराग्यजनक उपदेश को सुन कर अनेक जीवों ने बोधि-बीज प्राप्त किया। उनमें से ब्राह्मीजी भी एक थीं। उन्हें भगवान् की वाणी अत्यन्त रुचिकर हुई। संसार असार प्रतीत होने लगा। उन्होंने इस जीवन की क्षणभंगुरता को समझा और अक्षय जीवन को प्राप्त करने का संकल्प कर लिया। तत्पश्चात् भगवान् को यथोचित वन्दन-नमस्कार करके निवेदन किया—

नाथ! अखिलेश्वर! पतितपावन! मुझे तारो। मै मोह के कीचड़ में फंसी हूँ। दीनदयाल! मेरी मलिन आत्मा को निर्मल बनाओ। हे अशरणशरण! मै संसार त्याग कर आपकी वरद शरण में आना चाहती हूँ। मेरा उद्धार करो!

भगवान् ने उत्तर दिया—तू संसार-अवस्था की मेरी पुत्री है, परन्तु मै निस्संग हो चुका हू। अब मेरे लिए न कोई स्वजन है, न परजन है। मै ने इस शरीर के प्रति भी अपनापन छोड़ दिया है तो किसी और पदार्थ को अपना कैसे समझूं? भरत तुम्हारा भाई है। उसकी आज्ञा प्राप्त करके फिर संयम ग्रहण कर सकती हो। कल्याणकर अनुष्ठान में प्रतिबंध मत करो।

७--संयम-ग्रहण

उपदेश की समाप्ति होने पर सब श्रोता अपने-अपने स्थान पर चले गये। चक्रवर्त्ती भरत भी अपने परिवार के साथ राजभवन में आ गये।

अब ब्राह्मीजी का मन संसार में बिलकुल नहीं लगता था। अतएव वह भरतजी के पास आई और संयम वहन करने की अनुज्ञा माँगी। भरतजी दादी के वियोग से कुछ उद्विग्न तो थे ही, इधर ब्राह्मी ने गृहत्याग करने का विचार किया तो उन्हें और अधिक उद्वेग हुआ। भरतजी ने कहा—बहिन! संसार में संयम ही एक मात्र सारभूत तत्त्व है। अतएव संयम के प्रति मेरा गंभीर भक्तिभाव है। मैं उसे आदरणीय समझता हूँ, पर तुम्हारे लिए आचरणीय नहीं समझता। संयम आचरणीय नहीं है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसका आचरण करना योग्य नहीं है। मेरा आशय यह है कि उसका आचरण करना शक्य नहीं है। संयम की साधना बड़ी कठोर है और तुम्हारा शरीर बड़ा कोमल है! यह मृदुल गात लेकर तुम कठिन विरक्ति के पथ पर चल न सकोगी। अतएव अपने संकल्प को बदल लो तो अच्छा है!

ब्राह्मी ने कहा—भैया, प्रतीत होता है कि तुम ममता से प्रेरित होकर कह रहे हो। संयम का मुख्य संबंध तन के साथ नहीं, मन के साथ है। मन यदि मजबूत है तो संयम की साधना कठिन नहीं। फिर हम तो भगवान् ऋषभदेव की सन्तान हैं। हम से क्या संयम लेकर शिथिलता की आशा की जा सकती है ?

भरत—किन्तु भगवान् के समान अनन्त बल तुममें कहाँ है ?

ब्राह्मी—प्रत्येक आत्मा में अनन्त बल छिपा है। उसे प्रकाश में लाने की कला होनी चाहिए। कला अभ्यास से-प्रयोग से आती है। उस कला का प्रयोग किया जाय तो संयम-साधना अत्यन्त सरल बन जाती है।

भरत—ब्राह्मी, तुम उमंग में आकर यह विचार कर रही हो; वास्तविकता का विचार नहीं करती। संयम के कष्टों को सहन कर लेना हँसी-खेल नहीं है।

ब्राह्मी—भैया, आदिनाथ के आद्य पुत्र के मुख से मैं क्या सुन रही हूँ ? तुम्हें यह कहना शोभा नहीं देता। संयम तो असीम शान्ति का स्थान है ! संयममय जीवन में निराकुलता का जो आनन्द है, वह इस प्रपंचमय गार्हस्थ्य जीवन में कहाँ ?

लोग संयमी-जीवन को कष्टमय समझते हैं; किन्तु यह उनका भ्रम मात्र है। जिन्होंने इस जीवन को अंगीकार किया है, उनके उद्गार विलक्षण ही बात प्रकट करते हैं। वे कहते हैं—

न च राजभयं न च चौरभयं,
न च वृत्तिभयं न वियोगभयम् ।

इहलोकसुखं परलोकहितं,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥

अहा ! साधुपन कितना अधिक रमणीय है ! कितना आनन्दमय है। साधु बन जाने पर न राजा का भय रह जाता है, न चोरों का ही भय रह जाता है। सम्पत्ति हो और उस पर ममता हो तो राजा और चोर का भय हो। वही नहीं तो भय काहे का ! सम्पत्ति न होने पर भी साधु को अपनी आजीविका का भी भय नहीं रहता। सीधा और निर्दोष आहार मिल गया तो उसका लाभ ले लिया और न मिला तो तपस्या का लाभ ले लिया ! दोनों हाथ लड्डू हैं ! गृहस्थों को इष्ट पदार्थों और प्रिय जनों का वियोग सहन करना पड़ता है। साधुओं को वियोग का कोई भी भय ही नहीं है। संसार के किसी भी पदार्थ से उनका संयोग ही नहीं तो वियोग क्यों होगा ? "संयोग" होने पर ही वियोग की संभावना रहती है। साधु तो "संयोगा विप्पमुक्कस्स" अर्थात् संयोग मात्र से मुक्त होते हैं। अतएव उन्हें कभी वियोग की परछाईं नहीं देखनी पड़ती।

इस प्रकार सभी भयों का अभाव होने से साधु जीवन इस लोक में सुखदायक है और परलोक में भी हितकारक है। इससे अधिक रमणीय और क्या हो सकता है ?

कुछ लोग समझते हैं कि साधु अपने कुटुम्बी-जनों से रहित होने के कारण आनन्दमय जीवन से वंचित रहते हैं।

किन्तु यह विचार भी भ्रमपूर्ण है। साधु का परिवार तो भरापूरा होता है:—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः।
शय्या भूमितल दिशोऽपि वसन ज्ञानामृतं भोजन—
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भय योगिनः?॥

साधु का कुटुम्ब तो बड़ा विशाल है। धैर्य उसका पिता है, क्षमा माता है, दया भगिनी है, मन का संयम भाई है, पृथ्वी-तल उसकी सेज है, दिशा उसके वस्त्र हैं, वह ज्ञान रूपी अमृत का भोजन करता है! इतने जिसके कुटुम्बी हैं, उस योगी को क्या चिन्ता? किसका भय? किस चीज की कमी? वह सब तरह मस्त है!

हाँ, तो ब्राह्मीजी के अटल संकल्प के सामने चक्रवर्त्ती को पराजित होना पड़ा। उन्होंने ब्राह्मीजी की दृढ़ता देख कर आखिर अनुज्ञा दे दी और दीक्षामहोत्सव की तैयारी आरंभ कर दी।

शुभ मुहूर्त्त में राजसी ठाठ के साथ भरतजी ब्राह्मी को लेकर भगवान् के चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने निवेदन किया-प्रभो! बहिन ब्राह्मी मेरे नेत्रों की तारा है। प्राणों के समान प्रिय है इसे संसार से निर्वेद हो गया है। यह संयमवहन करने के लिए लालायित है। इसके परमकल्याण के पथ में मै

रोड़ा नहीं बनना चाहता। आप इसे अपनी चरण-शरण में ग्रहण कीजिए। मै विनय-पूर्वक आपको शिष्या की भिक्षा देता हू। मुझे और इसे कृतार्थ कीजिये।

भरतजी की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर ब्राह्मीजी को भगवान् ने दीक्षा दी। इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में ब्राह्मीजी सर्व-प्रथम महासती (साध्वी) बनीं !